श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

परमात्मप्रकाश प्रवचन

अष्टम भाग

प्रवक्ता :—

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी

"श्रीमत्सहजानन्द" महाराज

सम्पादक :—

महावीरप्रसाद जैन, बैंकर्स, सदर मेरठ

प्रकाशक —

खेमचन्द जैन, सर्राफ

मंत्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला,

१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ

(उ० प्र०)

प्रथम संस्करण] १००० | १९६७ | [मूल्य १)५०

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

परमात्मप्रकाश प्रवचन

अष्टम भाग

प्रवक्ता :—

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी
"श्रीमत्सहजानन्द" महाराज

सम्पादक :—

महावीरप्रसाद जैन, बैंकर्स, सदर मेरठ

प्रकाशक —
खेमचन्द जैन, सर्राफ
मंत्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला,
१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ
(उ० प्र०)

प्रथम संस्करण
१०००]

१९६७

[मूल्य
१)५०

(२५) श्री बा० राधेलाल कालूराम जी मोदी, गिरिडीह
(२६) ,, सेठ फूलचन्द बैजनाथ जी जैन, नई मण्डी, मुजफ्फरनगर
(२७) ,, ला० सुखवीरसिंह हेमचन्द जी सर्राफ, बड़ौत
(२८) श्रीमती धनवती देवी ध० प० स्व० ज्ञानचन्द जी जैन, इटावा
(२९) श्री दीपचंद जी जैन ए० इंजीनियर, कानपुर
(३०) श्री गोकुलचंद हरकचद जी गोधा, लालगोला
(३१) दि० जैनसमाज नाई मंडी, आगरा
(३२) दि० जैनसमाज जैनमन्दिर नमकमंडी, आगरा
(३३) श्रीमती शैलकुमारी ध० प० बा० इन्द्रजीत जी वकील, कानपुर
* (३४) ,, सेठ गजानन्द गुलाबचन्द जी जैन, गया
* (३५) ,, बा० जीतमल शान्तिकुमार जी छावड़ा, झूमरीतिलैया
* (३६) ,, सेठ शीतलप्रसाद जी जैन, सदर मेरठ
* (३७) ,, सेठ मोहनलाल ताराचन्द जी जैन बड़जात्या, जयपुर
* (३८) ,, बा० दयाराम जी जैन आर. एस. डी. ओ. सदर मेरठ
* (३९) ,, ला० मुन्नालाल यादवराय जी जैन, सदर मेरठ
× (४०) ,, ला० जिनेश्वरप्रसाद अभिनन्दनकुमार जी जैन, सहारनपुर
× (४१) ,, ला० नेमिचन्द जी जैन, रुड़की प्रेस, रुड़की
× (४२) ,, ला० जिनेश्वरलाल श्रीपाल जी जैन, शिमला
× (४३) ,, ला० बनवारीलाल निरंजनलाल जी जैन, शिमला

नोटः—जिन नामोंके पहले * ऐसा चिन्ह लगा है उन महानुभावोंकी स्वीकृत सदस्यता के कुछ रुपये आ गये हैं बाकी आने हैं तथा जिनके नामके पहले × ऐसा चिन्ह लगा है उनके रुपये अभी नहीं आये, आने हैं।

आत्म-कीर्तन

शान्तमूर्ति न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी "सहजानन्द" महाराज

द्वारा रचित

हूँ स्वतन्त्र निश्चल निष्काम । ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ।।टेक।।

[१]

मैं वह हूं जो हैं भगवान, जो मैं हूं वह हैं भगवान ।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यहँ राग वितान ।।

[२]

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान ।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ।।

[३]

सुख दुख दाता कोई न आन, मोह राग रुष दुख की खान ।
निजको निज परको पर जान, फिर दुखका नहिं लेश निदान ।।

[४]

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ।
राग त्यागि पहुँचूं निजधाम, आकुलताका फिर क्या काम ।।

[५]

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम ।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूँ अभिराम ।।

❀ अहिंसा परमो धर्म ❀

परमात्मप्रकाश प्रवचन अष्टम भाग

प्रवक्ता:— अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक
मनोहर जी वर्णी "सहजानंद" महाराज

इस परमात्म प्रकाश ग्रन्थमें परमात्मस्वभावकी चर्चा है। यह परमात्मस्वभाव प्रत्येक जीवमें स्वत पाया जाता है। यह आत्मा जिस स्वभावरूप रूप है उस स्वभावमें कोई विकार न आये और उस स्वभावका शुद्ध विकास हो उसीको व्यक्त परमात्मा कहते हैं। जो है वही निरावरण निर्मल, विविक्त, निःसंग हो गया इसीका अर्थ है परमात्मा। यह परमात्मत्व प्रत्येक जीवमें है, चाहे बहिरात्मा हो, अतरात्मा हो या परमात्मा हो। परमात्मामें परमात्मत्व व्यक्त है। अंतरात्मामें परमात्मत्वकी दृष्टि है और उसकी दृष्टिका आनन्द और अनुभव भी चल रहा है। बहिरात्मामें परमात्मत्व स्वभावसे है। जब जीव परमात्मस्वभावकी दृष्टि करता है तब उसे परमात्मस्वभावकी दृष्टिके कारण स्वय सहज स्वाधीन आनन्द जगता है। उस आनन्दमें यह सामर्थ्य है कि भव-भवके बद्ध कर्म भी जीर्ण हो जाते हैं। उस आत्माधीन सुखसे प्रीति करने के लिए श्री योगीन्दु देव इस दोहे को कहते हैं।

अप्पायत्तउ ज जि सुहु तेण जि करि संतोसु।
पर सुहु वढ चिंतताहँ हियइ ण फिट्टइ सोसु ॥१५४॥

हे वत्स! जो आत्माधीन सुख है उससे ही तू संतोष कर। इन्द्रियाधीन सुखको चिंतने वालेके हृदयमें दाह नहीं मिटती है। पराधीन सुखकी इच्छामें चित्तमें दाह बना रहता है। इच्छा ही स्वय दाह है और इच्छाके अनुकूल बात न हो तो उस दाहकी और वृद्धि होती है। कदाचित् इच्छाके अनुकूल सिद्धि भी हो गयी तो उसे भोगनेकी आकुलता रहती है। इन्द्रियाधीन सुख-सुख, नहीं है वह तो विडम्बना है। एक आत्माधीन सुख ही वास्तविक सुख है। इसमें कई गुण हैं। प्रथम तो यह आत्माधीन सुख आत्मासे ही उत्पन्न होता है। उसे किसी परकी आधीनता न चाहिए। अन्य द्रव्योंकी अपेक्षा न निरखनेसे उत्पन्न हुआ वह सुख है। दूसरे वह सुख गुणोंको जगाता हुआ उत्पन्न होता है। ज्ञानसे सम्बन्ध रखते हुए वह आनन्द है। भूल भुलावेका वह मौज नहीं है। जैसे ससारी मौज है तो वह भूल भुलावेको बढ़ाता हुआ होता है, किन्तु वह आत्मीय आनन्द ज्ञानभावको जगाता और बढ़ाता हुआ होता है। यह शुद्धआत्माके सम्वेदन से उत्पन्न होता है। ऐसा जो आत्माधीन सुख है, हे वत्स! तू उस सुखमें

ही संतोष कर।

इन्द्रियाधीन सुखको परसुख कहते हैं, पराधीन सुख कहते हैं। सो मित्र! जो पराधीन सुखकी वाञ्छा करता है उसके हृदयमें जो दाह उत्पन्न होती है वह नहीं मिटती। आत्माकी रति, अध्यात्मप्रेम, अध्यात्म दृष्टि आत्माका अनुभव—ये सब स्वाधीन हैं और इस सुखमें यही खुद आत्म पदसे भ्रष्ट होकर विनाश करे तो करे किन्तु इस आत्माधीन सुखमें विच्छे करनेका सामर्थ्य अन्य किसी पदार्थमें नहीं है। विच्छेदरहित है य आत्माधीन सुख। वैसे तो जो इन्द्रियाधीन सुख है वह भी अपनी कल्पनासे होता है, पर उस सुखमें है आश्रयभूत परपदार्थ और परका संयोग होन यह इस जीवके आधीन नहीं है, इस कारण परपदार्थका अभाव हुआ वियोग हुआ तो उस इन्द्रिय सुखमें बाधा आयेगी, परन्तु आत्माधीन सुख किसी परपदार्थके आश्रयसे नहीं होता, इस कारण परका वियोग हो तो संयोग हो तो, किसी भी अवस्थाको प्राप्त हो तो जब शुद्ध आनन्दका आश्रयभूत परपदार्थ होता ही नहीं है तो परकी परिणतिसे यहां आनन्दमें विच्छेद नहीं होता।

भैया! यह ही अशक्त होकर उस अनन्त ज्ञानकी निधिको पा सकने योग्य, रख सकने योग्य, बड़प्पन न पाकर अनुदारताके कारण स्वभावसे स्खलित हो जाय और बाह्य पदार्थोंमें कल्पना करके उस आनन्दका घात करदे तो करे, पर जैसे इन्द्रियसुखका विघात इन्द्रियसुखके आश्रयभूत परपदार्थोंके वियोगसे हो जाता है इस प्रकारका विघात इस आत्मीय आनन्दमें नहीं होता। यह आत्माधीन सुख विघ्न समूहोंसे रहित है। आत्मीय आनन्दमें परमें सयोग वियोगसे हानि वृद्धि नहीं होती, सद्भाव अभाव नहीं होता क्योंकि आत्मीय आनन्द परकी दृष्टि बिना हुआ करता है इसलिए परकी ओरसे इस आत्मामें इस आनन्दके अनुभवमें कोई विघ्न नहीं होता है। यह ही नहीं रह सकता, इसमें ही महत्त्व नहीं है, गम्भीरता नहीं है, ज्ञानमें दृढ़ प्रवेश नहीं है। सो स्वयं आकुलित होकर अपने आनन्द गृहसे निकलकर बाहरकी ओर तक कर दुःखी होता है। किन्तु इसके आनन्दमें बाधा करने वाला कोई बाह्य पदार्थ नहीं होता। ऐसा यह आत्मीय आनन्द है।

पचेन्द्रियके विषयभोगोंका आनन्द उनकी रति पराधीन है। कितनी आधीनताएँ हैं इन्द्रिय सुखके निर्माणमें ! कितनो परवस्तुवोंका समागम चाहिए और इन्द्रियकी समर्थता, देहकी समर्थता, मित्रजनोंका, परिवार-जनोंका प्रसाद, अनेक धन वैभव पैसा और इन सबका समागम कितनी

इसमें आधीनता है, पर आत्मीय सुखमें परकी आधीनता नहीं है। भोजन पान आदि भी इन्द्रियका उपभोग है। इन्द्रियोपभोगोंको छोड़कर शरीरके बन्धनमें जकड़ा हुआ जीव आहारपान बिना सदाको एकदम आत्मीय आनन्दमें पहुच जाय तो वह जरा दुर्गम है। कितने ही पुरुष ऐसे होते हैं जो इन्द्रियाधीन प्रवृत्तियोंके उपभोगको एकदम छोड़कर छोड ही चुकते हैं और आत्मीय आनन्दमें विभोर हो जाते हैं। ऐसे विरले ही पुरुष हैं साधुवोंमें भी, मुनिजनोंमे भी। आजकल तो होते ही नहीं हैं, पर पुराण जो मुनि हुए हैं उनमें भी बाहुबलि, भरत जैसे विरले ही साधु ऐसे हुए हैं कि त्याग दिया तो फिर त्यागा ही, फिर आहार भी नहीं लिया, पानी भी नहीं लिया, चले फिरे भी नहीं, कोई प्रवृत्ति नहीं करी। सन्यास किया तो किया ही। ऐसे विरले हैं।

अब इस सन्धिमें करें क्या? संतजन आत्मीय आनन्दमें तो लगते हैं और विषयोंकी मौजसे घबडाते हैं किन्तु आहारपानके उपभोग बिना गुजारा नहीं है, भोजन करना ही है। ऐसी सधिमें जो करना होता है करते हैं तिस पर भी यह ज्ञानीका विवेक जागृत है कि सुख है तो वह आत्मीय सुख ही है। क्या चारा है? जबरदस्ती प्राण छोड़ दिए जायें तो क्या कोई कल्याण और मुक्तिका उपाय है? बाह्य उपभोग बिना, अर्थात् आहार जलपान बिना द्रव्य प्राणोंका बहुत कालों तक टिकना यह असम्भव बात है, ऐसी सन्धिको ज्ञानी जीव नहीं चाहता है। इन्द्रियोंका उपभोग भोजन आदिक फिर भी करना पड़ता है और ऐसा भी कुछ बेहोश नहीं है कि गलेसे भोजन अटकते गटकते चला जा रहा है, स्वादका भी पता नहीं है, ऐसी भी स्थिति नहीं होती है, जानता है वह कि यह मीठा है, यह नमक है, स्वादोंका भी उसे पता है, भोजन आदिक भी करे, फिर भी भोजन आदिककी रुचि न होकर एक आत्मीय आनन्दकी रुचि जगे ऐसा शुद्ध जो परिणाम है ज्ञान और वैराग्यका, वह एक अद्भुत ही परिणाम है।

विवेकीको सदा सावधानी है कि आनन्द है तो वह आत्मीय आनन्द ही है। जैसे ईंधनके डालनेसे अग्निकी तृप्ति नहीं होती है, आग जलती हो, कोई चाहे कि आगमे लकडी और कोयला डाल दें तो आग शांत हो जायेगी, तो क्या आगको उससे सतोष होता है? मेरा अब पेट भर चुका, अब तू लकड़ी कोयला मत मुझे दे, अब हमारी ज्वाला न फैलेगी, खूब सतोष हो गया है, क्या अग्निकी ओरसे ऐसा उत्तर मिलता है? अग्निके मुख नहीं है पर एक साहित्यिक रूपमें कह रहे हैं कि क्या अग्निकी ओरसे

ऐसा जवाब मिलता है कि अब हमें ईंधन नहीं चाहिए कि एक बार यह मनुष्य तो कह देगा कि अब हमें भोजन न चाहिए मगर उसी टाइम कहने के लिए है। ६-८ घटे व्यतीत हों फिर कहे तो जानें कि भोजन करनेसे इस मनुष्यको संतोष है। उसको सतोष नहीं है पर पेटमें जगह नहीं है सो भक मारकर मना करता है, अब न चाहिए।

तो जैसे अग्निको ईंधनसे सतोष नहीं होता, हजारों नदियोंके मेलसे समुद्रको सतोष नहीं होता इसी प्रकार ये भोगरति विषय सुख इनके भोगसे तृप्ति नहीं होती। कोई सोचे कि अमुक प्रकारका विषय मैं एक बार भोगूँ फिर नहीं, तो एक बार भोगनेका जो विकल्प है वह मलिन है। उस मलिनतामें ऐसी योग्यता भरी है कि आगे भी तृप्त नहीं हो सकता। ऐसा जानकर भोग सुखका त्याग करो।

हे भव्य पुरुषों! इस अध्यात्म सुखमें स्थित होकर इस अध्यात्म ज्योति की ही भावना करना चाहिए। मैं एक ज्ञानमात्र हू, ऐसे उस सहज-स्वभावमें रति करना है। यह मैं केवल ज्ञान प्रकाशमात्र हू ऐसा अनुभव करके सन्तुष्ट होना। मैं एक ज्ञानमात्र हूं और ज्ञानमात्र परिणमन हो जाना यह ही एकमात्र दृष्टि है, ऐसे इस ज्ञानस्वभावमें ही रति हो, तृप्ति हो, सतोष हो। सुखका मार्ग इसको छोड़कर अन्य कुछ नहीं है। पर ऐसा होने के लिए अंतरगमें त्यागभावना विशेष चाहिए। जिस क्षण यह आत्मीय आनन्दकी झलक होती है उस क्षण इस जीवके किसी भी प्रकारका पर-सम्बन्धी विकल्प नहीं रहता है। इसके लिए यत्न यह करना होगा कि जगत्के सभी पदार्थोंमें परताकी भावना बनाना होगा। इन सब जीवोंमेंसे ये दो चार जीव तो मेरे हैं, हितू हैं, मित्र हैं, भले हैं, सब कुछ हैं और सब गैर हैं, न कुछ हैं, ऐसी मूलमें दृष्टि बनी हो तो उसमें यह योग्यता ही नहीं आती है कि कभी विकल्प मिटे, निर्विकल्प आनन्दका वह लाभ मिल सके। तो हे मुमुक्षुपुरुष! इन्द्रियाधीन सुखकी रति छोड़कर उस आत्माधीन सुखमें ही रति कर।

देखो भैया! जैसे तृण और काष्ठोंसे अग्नि शात नहीं होती, हजारों नदियोंके आनेसे बड़ा समुद्र भी तृप्त नहीं हुआ करता, इसी प्रकार काम और भोगोंके यत्नसे यह जीव कभी भी तृप्त नहीं हो सकता है। अतः अध्यात्म रति करो, अध्यात्म स्थिति बनाओ। अध्यात्मका अर्थ है— "आत्मनि इति अध्यात्मः।" "आत्मामें" शब्दार्थ इतना ही है। अध्यात्म एक समास वाला पद है, इसे अव्ययीभाव समास कहते हैं। जिसका तात्पर्य यह है कि बाह्य द्रव्योंका आलम्बन छोड़कर केवल आत्मद्रव्यमें ही

अपनी निगाह बनाना, इसको कहते हैं अध्यात्मयोग। मिथ्यात्व कषायादिक समस्त बाह्य भावोंसे अपने आत्माको हटाकर और जैसा कि इसका सहज स्वरूप है उस स्वरूपमें दृष्टि लगाना, स्थिरता लाना, इसको कहते हैं अध्यात्मयोग। सो ऐसे अध्यात्मआनन्दको पाओ और पराधीन सुखकी वाञ्छाको दूरकर अब आत्माका ज्ञानस्वभाव दिखाते हैं।

अप्पह णाणु परिच्चयवि अण्णु ण अत्थि सहाउ।
इउ जाणेविणु जोइयहु परहँ म बधउ राउ ॥१५५॥

आत्माका जो निज स्वभाव है वह ज्ञानस्वभाव है। ज्ञानभावको छोडकर इस आत्मामे अन्य और कोई स्वभाव नहीं है— ऐसा जानकर हे योगी! परवस्तुमें रागको मत बाध। इस आत्मामें ज्ञान द्वारा थोड़ा प्रवेश करते हुए अदाज तो करो कि आखिर आत्मामें है क्या? जो जाननहार है उस जाननहार पदार्थमें है। क्या चीज? अन्तर्दृष्टि करके देखो। इन्द्रियोंको संयत करके देखा तो अन्तरमें इसे क्या मिलता है? हड्डी खूनका इसे ख्याल नहीं होता कि मेरे अन्दरमें हड्डी है और कुछ चीजें भरी हैं, ऐसा ख्याल नहीं होता क्योंकि वह अध्यात्म नहीं है। केवल जाननहार जो तत्त्व है उस जाननस्वरूपको ही निरखकर देखता है कि यह मैं क्या हूं? वहां तो शरीर दिखता भी नहीं। यह भी विदित नहीं होता कि है शरीर कि नहीं।

भैया! यहां अध्यात्मयोग की बात कही जा रही है। वजन लगना, हलका लगना, बोझल होना, कुछ अड़चनसी होना, उस ऊँचे योगमें ये कोई बातें नहीं हैं। वहा तो केवल ज्ञानप्रकाश ही दृष्ट होता है। इस आत्मा को खोजनेको चले कि है क्या? तो मिलेगा केवल एक ज्ञानप्रकाश यह आत्मा एक प्रतिभासात्मक विलक्षण पदार्थ है, जो है सो है यह। इसको किसीने बनाया नहीं, घड़ा नहीं, किन्तु जो अनादिसे है सो है। वह क्रियात्मक है। यह समझानेके लिए ऋषीसतोंका प्रयास है पर कुछ चीज लाकर बनायी जाती हो या व्यवस्था बनायी जाती हो ऐसी बात नहीं है, किन्तु जो है उसके अनुकूल उसको समझ के लिए व्यवस्था बनायी जाती है। तो चले देखने आत्मामें तो क्या मिला? एक ज्ञानस्वभाव ज्ञान प्रकाश जिस ज्ञान गुणराजका रक्षण करनेके लिए मानों अन्य गुणोंका सद्भाव है, उस ज्ञान द्वारा अपने आपके स्वरूपका अनुभव कर।

मैं ज्ञानमात्र हू, जो जानन है, प्रतिभास मात्र है, एतावन् हू। मेरे अन्दर कहीं कुछ नहीं है। अपने आपके अतिरिक्त अ पदार्थोंका निषेध कर दें। कुछ ये नहीं हैं। सब मुझसे अत्यन्त ि

ऐसे इस ज्ञानस्वभावको न छोड़कर अपने आपके आनन्दका अनुभवकर। देखो आत्माके ज्ञानस्वभावको छोड़कर अन्य और कोई स्वभाव नहीं है। हमें बड़ा बनना है याने हरे भरे विकसित बनना है, कुछ अपने आपको एक विस्तृत फूला हुआ, खिला हुआ बनना है तो क्या बनना है ? ज्ञान-स्वभावकी दृष्टि होने पर समझ में आयेगा कि मुझे ज्ञान प्रकाशमें महान् बनना है। ज्ञानप्रकाश मात्र मैं रह सकूँ, ऐसा मुझे होना है।

भैया ! इस सम्बन्धमें भी यह तृष्णा न होनी चाहिए कि मैं तीनों लोकका जाननहार बनूँ। यह तृष्णा भी ज्ञानविकासमें बाधा देने वाली है, किन्तु ज्ञानका जो स्वरूप है, जैसा उसका सहज लक्षण है उस रूप अपनेको निहारना भर है, अन्य प्रयोजन कुछ नहीं है। मुझे कुछ बनना नहीं है, बस देख रहा हू, यह है, दिख गया। देखना क्या ? जो दिख गया सो दिख गया, जो ज्ञात हो गया सो ज्ञात हो गया। बस यह मूलवृत्ति है विकासकी। तो ऐसे ज्ञानस्वभावको लक्ष्यमें लेकर मात्र यही मैं हू, ऐसा अनुभव करे तो हे योगी ! यह स्वाधीन आत्मीय शुद्ध आनन्दको प्राप्त कर सकता है। ऐसे स्वसम्वेदन ज्ञानको छोड़कर ज्ञानसे भिन्न अन्य कोई आत्माका स्वभाव नहीं है, यह ही आत्माका स्वभाव है, सो यह जानकर किसी भी परवस्तुमें जो कि अपने स्वरूपसे भिन्न है, ऐसे देहादिकमें तू राग मत कर।

यहां यह शिक्षा दी गयी है कि शुद्ध आत्माके ज्ञानस्वभावको छोड़कर नहीं रहना है। उसको जानकर रागादिकको त्यागकर अपने ज्ञान-स्वभावकी निरन्तर भावना करना है अर्थात् अपनेको अपना पता बनाए रहना है कि मैं मात्र ज्ञानस्वरूप हू। अब अपने आत्माकी प्राप्तिके लिए चित्तको स्थिर करनेकी देशना देशना देते हुए इस दोहेमें आत्माकी निर्मलताका फल बताते हैं।

विसयकसायहिं मणसलिलु णवि डहुलिज्जइ जासु।
अप्पा णिम्मलु होइ लहु वढ पच्चक्खुवि तासु ॥१५६॥

जिसका मनरूपी जल विषय कषायोंसे क्षुब्ध नहीं होता है उसका आत्मा हे वत्स ! निर्मल होता है और वह शीघ्र प्रत्यक्ष हो जाता है। अपने आपका जानना तब बन सकता है जब अपने चित्तमें कलुषता न आये। सभी जीवोंको एक समान चैतन्यस्वरूपमय देखो। किसीको अपना द्वेषी, किसीको अपना रागी न देखो और कुछ जीवोंको ही जो परिवारजन होते हैं उनको ही अपना सर्वस्व न मान लो कि ये ही मेरे सर्वस्व हैं। जीवोंके स्वरूप पर दृष्टि होना यही आत्माके निर्मल बननेका मूल उपाय

है। जब तक यह उपयोग जो एक जगह कुछ वैभवमें, कुछ लोगोंमे केन्द्रित है, यह फैलकर व्यापी न बन जाय, अथवा इतना भी बाहर न रहकर केवल अपने स्वरूपमे केन्द्रित न हो जाय तब तक जीवको निर्मलता प्राप्त नहीं होती। कुछ न कुछ रागद्वेषका क्षोभ चलता रहता है।

यह मनरूपी जल जिसका निर्मल हो, क्षुब्ध न हो, उसको ही यह आत्मा प्रत्यक्ष दिखता है। इस प्रकरणमे यह अब बताया जा रहा है कि आत्माकी प्राप्तिके लिए क्या उपाय करना चाहिए? तो प्रथम उपायमें यह बताया है कि अपने आत्माको निर्मल करो। निर्मलताका यह परिचय है कि मन रूपी जल क्षुब्ध न हो। जैसे समुद्रका जल वायुके स्पर्शसे क्षुब्ध हो जाता है इसी प्रकार यह मनरूपी जल मोह अधकाररूपी महावायुसे क्षुब्ध हो जाता है, डगमगा जाता है। तो इस मनको जलकी उपमा दी। जैसे जल जरासी वायु पाकर लहर खाने लगता है और काष्ठ पत्थर वगैरह लहर नहीं खाते। तेज वायु चले तो कदाचित् थोड़ा सरके, पर पानी जरासी हवा पाकर लहर खाने लगता है। इसी प्रकार यह मन भी जल की तरह है। विषय और कषायोंका रच परिणाम हो तो यह मन चचल लहरें खाने लगता है। यह विषय कषायोंकी हवा मेरा स्वरूप नहीं है। मैं तो शुद्ध आत्मतत्व रूप हू।

जो मुझमें सहज है वह तो मेरा स्वरूप है और जो मुझमे सहज नहीं है, होता है अपने ही परिणमनसे, किन्तु जो सहज नहीं है, उपाधिकी सन्निधि पाकर होता है ऐसा यह सब कुछ मै नही हू। ये विषय कषायोंके महाविप शुद्ध आत्मतत्त्वसे प्रतिपक्षभूत हैं। यह शुद्ध आत्मतत्त्व विषय और कषायोंसे रहित है। ऐसे शुद्ध आत्मस्वरूपसे बिलकुल विपरीत जो विषय कषायोंकी महा हवायें हैं उन हवाओंसे यह मनरूपी प्रचुर जल क्षुब्ध हो रहा है।

यह मनरूपी जल कहा पाया जा रहा है? जैसे कि समुद्रमे जल पाया जाता है इसी प्रकार यह मन-जल इन ज्ञानावरणादिक ८ कर्मरूपी जलचरोंसे भरा हुआ ससारसागरमें पाया जा रहा है। इस द्रव्यकर्म, भावकर्मके बीच यह मनसलिल पाया जा रहा है और विषय कषायोंकी महान् वायुका निमित्त पाकर यह डावाडोल हो रहा है। सो जिस भव्य जीवका चित्त डावाडोल नहीं होता, क्षुब्ध नहीं होता उसका आत्मा निर्मल होता है। यह आत्मा अनादिकालसे दुरवस्थारूप महापातालमे पड़ा हुआ है। इसका जब रागादिक मैल दूर होता है तब यह शीघ्र निर्मल होता है और यह आत्मा निर्मल होता है इतना ही नहीं, किन्तु जैसा सहज

शुद्ध आत्मा है वह अपने आपके प्रत्यक्ष भी हो जाता है।

भैया ! अपने परमात्मस्वरूपका ढकने वाला पर्दा है तो वह विषय कषायोंका परिणाम है। एक उपयोगमें २ बातें नहीं आतीं कि एक तो सहज परमात्मतत्त्वका श्रद्धान हो, और विषय कषायोंके परिणाम भी किये जा रहे हों, ये दो बातें एक साथ नहीं होतीं। सो विषय कषायोंके मलको दूर कर देने पर स्वतः स्वयं यह आत्मा अपने शुद्ध आत्माके दर्शन कर लेता है। उस प्रभुके दर्शन करनेके लिए आंखें कैसी चाहियें ? दृष्टि कौन सी हो जिस दृष्टिके द्वारा हम इस परमात्मतत्त्वको निरखें। वह दृष्टि है परमात्मस्वभाव आत्माकी अनुभवरूप कला। अनुपम आनन्द है वहां जो अपना स्वरूप है। उस स्वरूप रूप उपयोग हो तो वह एक अनुपम कला है। उस परमकला की दृष्टिसे जब तक अवलोकन होता है उससे यह जीव प्रत्यक्ष हो जाता है। अपने आपका स्वरूप अपने आपके सम्वेदन द्वारा ग्राह्य हो जाता है।

भैया ! मैं 'मैं' को न जान सकूँ यह तो एक गजबकी ही बात कहला सकती है। कितना अंधेर है कि जाननहार मैं और मैं के यथावत् स्वरूपको न जान सकूँ। जान सकता हू, स्पष्ट जान सकता हू, केवल इस अपने स्वरूपके जाननमें बाधक जो विषय और कषायके परिणाम हैं उनको दूर करनेकी आवश्यकता है। परमात्मा तो स्वयं अनादिसे अवस्थित है। सो उस शुद्ध आत्माकी अनुभूतिसे जब अपने आपमें सूक्ष्म अवलोकन होता है तो यह आत्मा अपने ज्ञानद्वारा ग्राह्य भी हो जाता है। जिसका पूर्वोक्त प्रकारसे निर्मल मन है उसको यह आत्मा प्रत्यक्ष ग्रहणमें आता है। आत्मा की उपलब्धिमें ही श्रेष्ठ आनन्द है। आत्माकी उपलब्धि तब होती है जब चित्त स्थिर हो। चित्त स्थिर हो, ऐसा करनेका उपाय है चित्तकी निर्मलता बनाना।

चित्त निर्मल कैसे होता है ? अपने उपयोगको सर्वजीवोंपर विस्तृत कर दें, फैंक दें, फला दें, अर्थात् ऐसा स्वरूपका अभ्यास चले कि जिसके परिणाममें बाहरके सब जीवोंको भी अपना जैसा ही देखूँ। वही एक स्वरूप सबको देखूँ। वहां यहां छटनी न हो सके कि यह मेरा है और यह पराया है। हैं सर्व भिन्न, पर सबके भिन्न होने पर भी जो कुछ जीवोंको ग्रहण किया और कुछ जीवोंको त्याग दिया। अपने ज्ञानमें कुछ लोगोंको अपनाना और छोड़ना यह आत्माको जाननेका उपाय नहीं है। जिसका मन निर्मल हो वही अपने प्रभुको देख सकता है।

अप्पा परहँ ण मेलविउ मणु मारिवि सहसत्ति।
सो वढ जोये किं करइ जासु ण एही सत्ति ॥१५७॥

यह आत्मा मनको शीघ्र मारकर, वशमें करके परमात्मामें यदि अपनेको नहीं मिलाता तो हे शिष्य ! जिसकी ऐसी शक्ति नहीं है वह योग द्वारा क्या कर सकता है ? मनको मारना व जीतना, इस मनके वशमें अपनेको कायर नहीं बनाना, यह एक बड़ा तप है। जिसे कहा है इच्छा-निरोध, इच्छाका रोक देना। सो जो ऐसा नहीं कर सकता उसका योग क्या करेगा अर्थात् व्यावहारिक योग जितनी धार्मिक क्रियाएँ हैं—दर्शन, पूजन, स्वाध्याय, ध्यान, प्राणायाम, एकासन, और जितने काम हैं वे सब योग कहलाते हैं। धर्मको पानेके लिए जो यत्न किए जाते हैं उन यत्नोंका नाम योग है। उन पुरुषोंको योग क्या कर सकता है जिनका मन अपने वशमें नहीं है।

यह सविकल्प आत्मा यदि परमात्मामें नहीं मिलाया जाता—यहां किसी दूसरे परमात्माको मिलाये जाने की बात नहीं कही है किन्तु यह कहा जा रहा है कि यह सविकल्प रूपसे उपस्थित हुआ निज आत्मा और स्वभाव दृष्टिसे अनादि अनन्त अहेतुक विराजमान शुद्ध चैतन्यस्वरूप भगवानमें अपनेको नहीं जोड़ते हैं तो उसका और धार्मिक क्रियावोंके योग का क्या नफा मिलेगा ? जब तक यह अपनी धुनका पक्का नहीं हो सकता तब तक यह अपने कार्यमें सफल नहीं होता। जीकर करना क्या है ? धन जुड़ गया लाखोंका, करोड़ोंका आखिर उससे मिलेगा, क्या ? मृत्यु होगी अकेले ही जायेगा और अकेले ही संसारके सुख दुःख भोगेगा। क्या मिलता है यहा किसीके व्यवहार करने से, किसीके अनुरागमें प्रेमालापमें अपना समय खो देनेसे इस जीवके हाथ कुछ नहीं आता है, बल्कि कुछ ही समय बाद जो रागवश समय खोया है उसका इसे पश्चाताप होता है।

इस आत्माको अर्थात् सकल्प विकल्प करनेकी स्थितिमें पडे हुए इस आत्माको निर्विकल्प परमात्मस्वभावमें ले जाइये तो यह कल्याणका उपाय है। यह परमात्मतत्त्व जो अपने आपमें निरन्तर स्वभावरूपमें बस रहा है वह विशुद्ध ज्ञान दर्शनस्वभावी है। वहां ख्याति, पूजा लाभ आदिक किसी भी मनोरथमें यह उपयोग फँसा नहीं है, किसी भी विकल्प जालमें यह उपयोग रमा नहीं है, ऐसे विशुद्ध ज्ञानात्मक दर्शनात्मक परमात्मामें जिसने अपने आपको नहीं लगाया, योग नहीं किया तब तक कहते हैं कि उस पुरुषके कल्पित योगसे क्या नफा हो सकता है ? दुनियाको चकित करनेके लिए प्राणायाम करे, घंटोंकी समाधि लगाये, इतने पर भी इस

जीवको मिलता कुछ नहीं है। सो जो जीव अपने मनको नहीं मार सकता वह धर्मके लिए धर्मकी धुनमें कुछ भी कार्य करता हो उसको धर्मकी सिद्धि नहीं होती।

इस मनको मारनेके लिए कोई विलक्षण शस्त्र चाहिए। वह शस्त्र है वीतराग निर्विकल्प समतापरिणामका। यह प्रभु कोमल कठोर बन्धनको काटेगा। कठिन बंधन है, मनका लगाव जो मिथ्यात्व विषय कषाय आदि निर्विकल्प समूहसे परिणत हुआ है ऐसा वह पुरुष जो इस मनको नहीं मार सकता और मन जब नहीं जीता जा सकता सो जो शुद्ध स्वरूप है उस स्वरूपको कैसे जान सकता है? जिसमें मनके मारनेकी शक्ति नहीं है उसको प्रभुका दर्शन नहीं होता। यह सब व्यर्थका परिणाम है। किसी भी परमें लगे रहना, विषय कषायोंमें चित्तका फँसाना, बाह्य पदार्थोंमें ही अपना विश्वास बनाए रहना—ये सब व्यर्थके परिणाम हैं। सो उन विकल्पो में परिणत मनको निर्विकल्प समाधिरूप शस्त्रके द्वारा खण्डित करो। फिर हे वत्स! वह अपने योगका फल पाता है जिसने मनको न मारा, वह पुरुष योगको भी क्या करेगा?

भैया! सब कुछ जो उपाय किया जाना चाहिए मुक्तिके लिए, आनन्दके लिए वे सब उपाय केवल एकके संभालेसे हो जाते हैं। 'एकै साधे सब सधे, सब साधे सब जाय।' केवल एक निजकी संभाल करलो उसहीसे सब सम्भाल हो जाती है। एक अपने आत्मस्वरूपकी सिद्धि करने से सर्व सिद्धि हो जाती है। एक अपने आत्मतत्त्वको न साधा जाय और धर्मके नाम पर बाह्यपदार्थोंमें नाना व्यवस्थाएँकी जायें तो इससे आत्मसिद्धि नहीं होती। जिसका लक्ष्य हो गया है आत्माको साधनेका उसको किसी बच्चे के ही मुखसे एक भावनाका दोहा सुननेको मिल जाय उससे ही वह अपना प्रयोजन निकाल लेता है। तो जिसको वस्तुस्वरूपका यथार्थ बोध हुआ है वह ही अपने प्रयोजनकी बात निकालता है। जिसे मनके मारनेकी शक्ति प्राप्त हो वही पुरुष जगत पर काबू पा सकता है और जो जरा-जरासी राग और द्वेषकी बातें आने पर मनको वश नहीं कर सकता मनके बहाव में बह जाता है, कहते हैं कि उस पुरुषको योग क्या करेगा?

अप्पा मेल्लिवि णाणमउ अण्णु जे झायहिं झाणि।
वढ अण्णाणवियम्भियहँ कउ तहँ केवलणाणु॥१५८॥

इस ज्ञानमय आत्माको छोड़कर अन्य पदका जो ध्यान लगाता है कहते हैं हे शिष्य, वह अज्ञानी है। उन शुद्ध आत्मावोंके ज्ञानसे विमुख होकर कुमति, कुश्रुत, कुअवधिरूप ज्ञानमें जो परिणत होते हैं उन जीवों

को इस केवल ज्ञानस्वरूप आत्माकी सिद्धि नहीं हो सकती। कैसे हो? कैवल्य दशा, मोक्ष अवस्था केवल रह जानेकी अवस्था है। वह केवल ज्ञान उनको ही प्राप्त होता है जो अपने आपमें केवल ज्ञानस्वरूपको निहारते हैं। इस दोहेमें यह शिक्षा दी गई है कि पहली पदवीमें रहने वाले मुमुक्षु जीवको सविकल्प अवस्थासे उपलब्ध ध्येय आवश्यक होता है क्योंकि चित्त को स्थिर करना और विषय कषायोंसे इसे दूर रखना, इन दो प्रयोजनोंके लिए सविकल्प अवस्थामें जो बाह्य प्रतिमा है, जिन वाणी है, गुरुसत्संग है, गुरुपूजन है, वे सब उसके ध्येय होते हैं पर निश्चय ध्यानकी कलामें अपना शुद्ध आत्मा ही ध्येय होता है।

सीधी सी बात है कि अपने को जितना अकेले देखोगे, अपने उपयोगको अकेले पावोगे उतनी ही तुममें निर्मलता जगेगी। सो जितना विशेष एकत्वका भाव बन सके, पहिले व्यावहारिक एकत्व जिसे सीधा कह देते हैं कि मुझे कोई सुखी दुःखी नहीं करता, सब जीव मुझसे न्यारे हैं, मैं सबसे न्यारा हू यों देखे। फिर अन्तरमें भी इस आत्माको, इस एकत्व भावनामें लिया जाता है तो वहा परमार्थ पद्धतिका एकत्व उपयोगमें रहता है। मैं बिलकुल अकेला हू, ऐसे अकेलेकी बात नहीं कह रहे कि आप सब जुदा हैं, अपनी-अपनी धुनमें हैं, मैं यह यहा अकेला ही बैठा हू। इस शरीर वाले अकेलेकी बात नहीं कह रहे हैं, किन्तु अपना स्वरूप बिलकुल अकेला है, रागादिक भावोंको लिए हुए स्वरूप नहीं है, किसी परके सम्बन्ध को लिए हुए स्वरूप नहीं है। मेरा स्वरूप मेरे कारण मेरे ही सत्त्वके प्रसाद से पूर्ण है, निर्मल है, ऐसे अपने आपके परमात्मस्वरूपका ही ध्यान निश्चयसे किया जाता है।

जैसे कोई पुरुष ससुरालसे आये हों तो लोग उनका बड़ा आदर करते हैं। उन लोगोंसे उसका परिचय नहीं है अथवा अन्य बिरादरीके हैं फिर भी सत्कार प्रेमालाप करते हैं। उनका जो भी आदर करते हैं वे उन पुरुषोंके नातेसे नहीं करते हैं किन्तु उस घरके नगरसे आये हुए हैं तो गृहिणीकी खबर लेनेको अथवा कुछ कुशल पूछनेको, कोई अपना प्रयोजन लेकर उन आदमियोंकी विनय शुश्रूषा करता है। इसी प्रकार ज्ञानी जीव अपने आपके परमात्मस्वरूपकी खबर रखनेके लिए, अपने आत्मतत्त्वके अनुभवका अवसर बनाए रहनेके लिए इस [illegible] द्वारसे व्यवहारधर्म क्रिया करते हैं। पूजा करना पूजाके लिए नहीं है, प्रभुका ध्यान करना प्रभुको प्रसन्न करनेके लिए नहीं है। सबका ध्येय मतलब अपने आपकी धारणामें शुद्धस्वरूपके जाननेके लिए है। जहा मात्र ज्ञानप्रकाश ही अनुभव

में आता है, ऐसा अपना शुद्ध आत्मा ही परमार्थसे उपादेय है। वह ही ध्यानेके योग्य है।

भैया! जब कोई संकट आये तुरन्त अपने उपयोगको अपने ज्ञानानन्दरस निर्भर स्वयके स्वरूपमें लगा दीजिए तो सारे सकट दूर हो जाते हैं। जैसे पानीमें कोई कछुवा पानीसे ऊपर सिर उठाकर जा रहा है तैरता हुआ तो उसके सिरको ग्रहण करनेके लिए, भोगे जानेके लिए दसों पक्षी मडराते हैं, पर कछुवामें एक कला ऐसी है कि दसों नहीं, हजारों उसको पकड़ने का उद्यम करें, मगर पकड नहीं सकते। क्या कला है कि चार अंगुल अगुल पानीमें डूब जाय अपनी चोंचको चार अगुल पानीके भीतर गुप्त करले फिर दसों हजारों पक्षी ऊपर मडराते हों तो भी उसका कुछ बुरा नहीं कर सकते हैं।

इसी प्रकार ज्ञानी जीव अपना निजी घर जो निर्भयताका स्थान है, आनन्दमय स्थान है, ऐसे अपने प्रदेशोंमें रहते रहते चाहे थोड़ा बाह्य की ओर झुकनेमें चित्त देना पड़े, चाहे शोक करना पडे तो भी उस बाह्य दृष्टिके सम्बन्धमें परिवारजनोंसे, मित्रजनोंसे, चेतन अचेतन परिग्रहोंसे इसको कुछ बेचैनी सी होने लगती है, तो इस ज्ञानीको एक छोटा ही तो काम है कि अपनी उस दृष्टिका अपने आपमें संकोच करके गुप्त करले तो सारे सकट सब एक साथ ध्वस्त हो जाते हैं। ऐसा यह शुद्ध आत्मा है, जिसके ध्यानके प्रतापसे समस्त सकट दूर होते हैं। वही शुद्ध आत्मतत्त्व ही हम आप सबके लिए ध्येयभूत है। कैसे शुद्धआत्माकी प्राप्ति हो? इसके उत्तरमें यह प्रकरण चल रहा है। मनको निर्मल करना और निर्मल निज स्वभावकी ओर इस मनको लगाना, ये ही अपने आपके कल्याणके साधक हैं।

ज्ञानमय आत्माको छोड़कर अन्य बातोंको जो कोई ध्याते हैं—हे शिष्य! उन अज्ञान पीड़ित पुरुषोंको केवलज्ञान कहांसे होगा? आखिरमें शुद्ध आत्माका ही ध्यान केवलज्ञानका कारण होता है और योगी पुरुषोंको बतला रहे हैं कि वे अज्ञानमें डूबे हुए हैं जो शुद्ध आत्माकी दृष्टिसे तो चिगे हैं और व्यावहारिक काण्डोंमें लगे हैं। शुद्ध आत्माकी दृष्टिसे चिगना तो गृहस्थोंको भी नहीं बताया। उन्हें भी शुद्ध आत्माको अपने लक्ष्यमें लेना बताया है। मुझे क्या करना है? सब कुछ करते हुए भी यह दृष्टि रहना चाहिए कि मुझे केवल बनना है, अपने आप जैसा ज्ञानमय हू उस स्वभावरूप बनना है तो ऐसा लक्ष्य तो गृहस्थको भी रखना चाहिए।

गृहस्थजनोंको बाह्य आलम्बन बहुत बताये गये हैं, साधुवोंको नहीं बताये गए हैं। साधुवोंको तो ज्ञान, ध्यान और तपकी मुख्यता बताई गई है। हां, जब मंदिर मिले या और ऐसा ही प्रसंग मिले तो वे उनकी उपेक्षा नहीं करते। वहां भी सभक्ति जाते हैं, पर जैसे गृहस्थोंको मंदिर दर्शन, पूजन ये अत्यावश्यक हैं इसी तरह मुनियोंको आवश्यक नहीं हैं क्योंकि साधुजन जंगलमें विचरने वाले और अपने ही काममें रहने वाले होते हैं, उनके चित्तमें ऐसा नहीं आता कि आज दर्शन करने नहीं गए। वे आत्म-ध्यानमें ही सतत अपनी दृष्टि रखते हैं, पर गृहस्थजनोंकी उनसे कुछ दशा विपरीत है। उनको आरम्भ लगे, परिग्रह लगे, और क्षोभ लगे, तो ऐसे अनेक प्रकारसे जिनका मन विचलित हो रहा है उनको बाह्य आलम्बन चाहिए। साधुवोंको क्या है, आंख मीची और प्रभुके दर्शन किया। उनमें सामर्थ्य होता है। सो कह रहे हैं साधु पुरुषोंको कि जो शुद्ध आत्माके, ज्ञानमय आत्माके ध्यानको छोड़कर अन्य प्रकारका ध्यान करते हैं अथवा दृष्टि ही नहीं है जिनकी आत्माके शुद्ध स्वरूपकी और नाना व्यवहारोंमें ही जो लगे रहते हैं वे अज्ञान विजृम्भित हैं। उनको केवलज्ञान कहांसे होगा?

भैया! यह आत्मा निर्मल ज्ञानसे रचा हुआ है, जिसमें इतनी सामर्थ्य है कि समस्त पदार्थोंको भी जान सकें, तो ऐसे आत्माके ध्यानको छोड़कर जो अन्यका ध्यान करते, उनको बताया है कि वे अज्ञानमें विजृम्भित हैं शुद्ध आत्माकी अनुभूतिसे विमुख हैं, उनको केवलज्ञान कैसे होगा, अर्थात् न होगा। इस दोहेमें यद्यपि पहिली पदवी वालोंको सविकल्प अवस्थामें चित्तको स्थिर करनेके लिए या विषय कषायोंके दुर्ध्यानोंसे बचनेके लिए जिनप्रतिमा, जिनवाणी, ये सब ध्येय होते हैं, तो भी निश्चय ध्यानके कालमें, जहां समतारसका अनुभवन किया करते हैं उस समय निज शुद्ध आत्मा ही ध्येय होना चाहिए। अब यहां ध्यानका प्रकरण है कुछ दोहों तक। उनमें कुछ स्थितियां भी बतायी जायगी कि जब ध्यानमें योगी एकाग्र होता है तो क्या स्थिति होती है?

सुण्णउ पउ झायंताहँ वलि वलि जोइयडाहँ।
समरसि-भाउ परेण सहु पुण्णुवि पाउ ण जाहँ ॥१५६॥

शून्यपदका ध्यान करने वाले योगीकी मैं बलिबलि जाता हूं, नमस्कार करता हू और पूजा करता हू। जिनका स्वसंवेद्य परमात्मतत्त्वके साथ समरसी भाव है और पुण्य और पाप भी जिनके उपादेय नहीं है ऐसे योगियोंको मैं पूजता हूं। यहां कह रहे हैं शून्यपदका ध्यान करने

जाओ। शून्य पदका अर्थ है शुभ-अशुभ, मन, वचन कायके व्यापारोंसे शून्य किन्तु वस्तुभूत स्थान। मन, वचन, कायकी क्रियावोंका आलम्बन लेकर जो परिणाम बनता है वह सविकल्प है। इसमें यहां वहां का ख्याल है। परन्तु योगी पुरुषोंका वह उत्तम ध्यान जहां मन वचन, कायकी क्रियाएँ नहीं होती हैं, उसमें क्या ध्यान किया करते हैं वे ? कोई बाहरी चीज तो ध्यानमें रही नहीं। उनके ध्यानकी चीज है केवल ज्ञानस्वरूप। सो उस ज्ञानस्वरूपमें न विकल्प है, न मन, वचन, काय है, न रूप, रस, गंध है, न अन्य कोई तत्त्व है। वह तो आकाशकी तरह एक शून्यसा पदार्थ है।

भैया ! आखिर आकाशमें भी तो कुछ स्वरूप होगा है ना। इस आत्मामें चैतन्यस्वरूप है। तो जैसे आकाशका जो स्वरूप है उस स्वरूप को निरखते हुए आकाश शून्य है। इसी प्रकार आत्माका जो स्वरूप है उस स्वरूपको रखते हुए यह आत्मा भी शून्य है अर्थात् पुद्गलसे, विभावोंसे, विकल्पोंसे रहित केवल निज अमूर्तस्वरूप मात्र हैं। ऐसे शून्य पदका जो ध्यान करते हैं उन योगी पुरुषोंको मैं पूजता हू। जिनका यहां वहां कहीं चित्त ही नहीं है, छोटे बड़े, धनी, गरीब प्रशसक, निन्दक इनमें कहीं चित्त नहीं है। साधु पुरुष दुनियासे अलग होते हैं। जो लौकिक पुरुषोंमें बात है उससे उल्टे होते हैं साधु। लौकिक पुरुषोंको इज्जत और पोजीशन रखने की वृत्तिया करनी पड़ती हैं और साधुवोंको नहीं। उनका काम केवल अपने आत्माके ध्यानका है। बाहर क्या होता है ? सो जिसका जो होना है वह उसका परिणमन है।

भैया ! ऐसा समझिए कि दुनियाके लिए मरा हुआ सा रहे और अपने लिए पूरा जगा हुआ रहे, ऐसी वृत्ति है साधुकी जब कि गृहस्थ नहीं ऐसे रह सकता। उसकी अवस्था ही ऐसी है। रहे तो गृहस्थी निभा नहीं सकता। सब देखना होता है। यश, कीर्ति पोजीशन, ढग, रहन सहन। तो ऐसे शून्य पदका ध्यान करने वाले योगी होते हैं। कैसा है उनका वह स्वरूप ? यद्यपि परभावोंसे, परपदार्थोंसे रहित है, शून्य है, पर स्वसम्वेदन रूप जो उनकी परम कला है उस कलासे वे भरपूर हैं, उन योगियोंको सूना भी देखलो और भरा पूरा भी देखलो। सूने तो हैं परभावोंसे और भरे पूरे हैं अपने गुणोंसे। उनकी परम कला है स्वसम्वेदन अधिकतर दृष्टि, अधिकतर उपयोग उनका ज्ञानमय आत्मापर रहता है। ऐसी उनकी अन्तर्वृत्ति होती है तब वे साधु परमेष्ठी कहलाते हैं।

साधुवोंको हम परमेष्ठीकी कक्षामें रखते हैं, जिस कक्षामें अरहंत हालांकि वे उनसे ऊँचे विकासमें हैं पर परमेष्ठिपनेकी जाति तो

एक है। तब समझ लीजिए कि हम अरहंतको ऐसे निर्दोष सर्वज्ञताके नाते से पूजते हैं तो उनके जो लघु भाई साधु हैं वे कैसे उपयोग वाले हुआ करते हैं, सो समझ लीजिए। इसी कारण और श्रेणीमें और पदोंमें कुछ कमी आ जाय, कुछ दोष आ जाय तो उससे धर्म प्रभावनामें कुछ विघ्न नहीं होता अथवा वे आदर्शरूपसे नहीं हैं, पर अरहत भी परमेष्ठी हैं और साधु भी परमेष्ठीमें हैं। तो अरहत पूर्ण निष्कलक हैं, तो साधुको भी, साधु पदमें, साधुकी सीमामें चाहे उस सीमाके निचले छोर पर हो, पर आदर्श और निष्कलक होना बताया है।

ये साधु भीतरमें सूने हैं, विकल्प संकल्प, भलाभला, शल्य, चिंता, शोक कुछ भी उनके उपयोगमे नहीं हैं। ऐसी उनकी आत्मतत्त्वमें रुचि है, लीनता है, अनुरक्ति है कि उनको बाह्यसे कुछ प्रयोजन नहीं है। समागम को, बोलने चालनेको जो आफत समझते हैं, खुश होना तो दूर रहो, आपत्ति समझते हैं, विघ्न समझते हैं, मेरे कार्यमें विघ्न होगा ऐसा वे समझते हैं, वे समागममें क्या तो हर्ष मान सकेंगे और क्या दूसरेको रंजित करनेका उपक्रम करेंगे? वे तो ध्येयभूत हैं, आदर्श हैं, अपने आपमें स्वसम्वेदनकी कलासे तृप्त हैं, भरे पूरे हैं। क्यों तृप्त हैं? कोई सूना-सुना रहकर तृप्त नहीं होता। कुछ भरा पूरा हो तो तृप्त रहता है। ये साधुजन जो निर्दोष हैं, तृप्त हैं, किससे? स्वसम्वेदनकी कलासे। वीतराग परमानन्दरूप रसका जहा स्वाद भरा है ऐसे स्वसम्वेदन ज्ञानकी कलासे ये साधु भरे हैं। ऐसे निज शुद्ध आत्मस्वरूपका ध्यान करने वाले योगियोकी मैं बलि-बलि करता हू।

बलिका अर्थ पूजा है, नमस्कार है। बलिका नाम तो अब हत्यामें प्रचलित हो गया है, पर बलि शब्दका सीधा साफ अर्थ है पूजा। तो वे जो शुद्ध आत्माका ध्यान करते हैं त्रिगुप्तिके बलसे करते हैं। मन वशमें है, वचन वशमें है, काय वशमें है, ऐसी स्थितिमें जो समताका रस उछलता है उस रससे जो तृप्त रहते हैं ऐसे साधुजनोंको यहा योगीन्दुदेव कहते हैं कि मैं बलि-बलि जाता हू, अर्थात् वे अपने आभ्यतर गुणोंका अनुराग प्रकट करते हैं। कोई यदि किसी धर्मात्माको देखकर प्रसन्न रहता है, खुश होता है तो वह अपने ही धर्मका अनुराग जाहिर करता है। कोई किसी पर क्या अनुराग कर सकता है? नहीं कर सकता। जो भी करता है वह अपने तीव्र कषाय या मद कषायका परिणमन करता है। अपने मे ही जो अपना धर्म बसा है उसका अनुराग वह करता है, दूसरेका वह अनुराग नहीं करता है। इस प्रकार भक्त परमयोगियोंकी प्रशसा

करता है।

योगियोंके समतापरिणाम क्यों है कि रागद्वेषरहित परम आनन्दमय ज्ञानस्वभावकी ज्योति उनके अनुभवमें सदा जगी रहती है, इसलिए वे तृप्त हैं। जो बाहरमें कुछ नहीं चाहता उसे कहते हैं योगी। एक ही व्याख्या है और उनकी स्थिति ऐसी होती है कि अन्य लोग परमहंसोंकी बताया करते हैं। उन परमहंसोंसे भी अधिक बाह्यमें कुछ खबर न रखने की वृत्ति निर्ग्रन्थोंके होती है। जमीन पर पड़े हैं, शौक नहीं रही, शान नहीं रही, मान अपमान नहीं रहा। ऐसी वृत्ति उन पुरुषोंकी होती है। प्रशंसा और निन्दामें जो समान परिणाम रख सकता है उसके सर्वसाधनों में अन्तर आ जाता है। कोई भक्तोंके बीच मजाक, खुशी, प्रसन्न होना, हसना, मौज करना, इन बातोंको किया करे, उसमें यह माद्दा नहीं रह सकता कि कोई निन्दा करे तो उसको भी सह सके।

प्रशंसाकी ओर कोई वृत्ति डाले, यह इस बातको सिद्ध करता है कि इसकी निन्दा सुननेकी प्रकृति नहीं है। जो निन्दा सुनकर घबड़ा जाय, समझो कि इसके अन्तरमें अब भी प्रशंसाका अनुराग है। इन दोनोंका जोड़ा है। तो जो प्रशंसा निन्दामें समान रह सकता है उसके शरीरका, कमण्डलका, पिछीका, ये सारे शौक खत्म हो जाते हैं। बढ़िया सजी हुई पिछी हो जो दिखनेमें बेढंगकी लगे, ऐसी प्रकृति समता वाले साधुजनोंकी नहीं होती है।

मयूरकी पिछी क्यों बताई है? पहिले साधुवोंका जंगलमें निवास था। उत्सर्गमार्गमें तो वननिवास बताया है। कोई कालसे स्थितिसे परिस्थितिसे चैत्यालयमें रहो मगर पहिले जंगलमें साधुजन रहते थे और संयमके उपकरण उनको आसानीसे वहां मिलते थे। मयूरके पंख खुद झड़े हुए पड़े रहते थे, बटोरा, १०—२० हो गए, बांध लिया। मयूरके पंखोंमें जो सफेद डंडी है उससे ही पंख बंध जाते हैं। सुतलीकी जरूरत नहीं पड़ती। अट्ट बने, सट्ट बने, कैसी ही बने। बँध गयी। वहां हजारों पंखोंकी आवश्यकता नहीं है। संयमका काम उससे चलने लगेगा। इसी तरह उपकरण भी—जैसे कमण्डल बहुत सुहावना हो, छांटकर लेना, १०–२० मंगाकर पसंद करके लेना, ऐसी बात भी उन साधुवोंमें नहीं हुआ करती है।

चर्या की बात बच्चोंकी तरह है। जैसे बच्चेको जब भूख लगती है तब ही वह अपनी मां की याद करता है, नहीं तो खेलनेमें मस्त है। इसी तरह योगी साधु अपने आत्मध्यानमें लगे हैं। जब क्षुधाकी तीव्र

वेदना होगी तब इस शरीरको कुछ न कुछ देने के लिए अपना काम छोड़ कर, रात्रिका, सामायिकका समय छोड़कर दिनमें किसी भी समय ६ बजे, १० बजे, २॥ बजे, ४ बजे, जो टाइम हो, २ घटे दिन बाद और दो घटे दिनसे पहिले कभी चल दिया। कभी चल दे। क्योंकि अनुद्दिष्ट, शुद्ध उनका भोजन था। तो समय पर भक्तिपूर्वक मिला, खा कर चले आये। यह चीज थी, पर आजके समयमें साधुवोंकी बात जहा श्रावकजन सोचते हैं, तो श्रावकजन अपनी बात नहीं सोचते कि हम भी अपने कर्तव्यसे गिरे या नहीं। हमें वेसा भोजन करना चाहिये कि अचानक कोई साधु आ जाय तो वह भी खा सके।

भैया! समय देखकर साधुजन अपनी चर्या बदल दें, ऐसा तो नहीं होगा क्योंकि वह तो आदर्श मार्ग है। न विधि बने तो न बने। सो वे तो बदल नहीं सके, पर श्रावकोंने अपनी विधि बदल दी है। इसलिए थोड़ी यह बात आ गई, नहीं तो बहुत ऊँची बात थी पब्लिककी दृष्टिमें दिगम्बर साधुवोंके प्रति। दिगम्बर साधुवोंको जैन समाजमे कैद होकर रहने पड़ने का कारण यही है। यदि वे कैदकी तरह न रहते तो साधारण जनतामें फिर धर्मप्रभावना देखने कैसी होती।

समरसी भावके कारण साधुजनोंको वैभव और कंकड़ दोनों समान हैं अथवा ज्ञानादि गुणोंका अपने आत्मद्रव्यके साथ जिनका उपयोग द्वारा एकीकरण हुआ है उनके पुण्य और पाप दोनों ही नहीं हैं। ये दोनों उनकी शुद्ध वृत्तिसे भिन्न हैं। तो जिन मुनियोंने इनको हेय समझ लिया है, परम ध्यानमें आरूढ हैं उनकी मै बार-बार बलिहारी जाता हू।

उव्वस वसिया जो करइ वसिया करइ जु सुण्णु।
वलि किज्जउँ तसु जोइयहिं जासु ण पाउ ण पुण्णु ॥१६०॥

मैं ऐसे योगियोंको पूजता हूं जो ऊजड़को तो बसाते हैं और बसे हुएको ऊजड़ करते हैं। ऊजड़ क्या है? शुद्धोपयोग। जो मौजूद नहीं है, जिसमें रति नहीं है,-जो कोई पास न हो उसे कहते हैं ऊजड़। उजाड़का अर्थ है नहीं रह रहा है, सूना पड़ रहा है। तो जो उजाड़ है शुद्धोपयोग, उसे तो बसाते हैं मायने अपनेमें लगाते हैं यह तो हुआ ऊजड़ोंका बसाना और जो बसे हुए हैं उनको ऊजड़ करते हैं। बसा कौन है? इन्द्रिय, विषय अशुभ परिणाम, कषाय इनको ऊजड़ करते हैं। ऐसे योगियोंको मैं पूजता हू। उन योगियोंके न तो पाप है और न पुण्य है।

यह प्रवृत्ति कब होती है उन योगियोंके जब कोई विशिष्ट ज्ञानका सम्बन्ध है। कोई अनुभूति जैसी बात जब चलती है तब वहा यह बात

हो जाती है कि जो ऊजड़ था वह तो बस जाता है और जो बसा हुआ है वह ऊजड़ हो जाता है, निकल जाता है। सो स्वसम्वेदन ज्ञानके बलसे यह स्थिति आती है। स्वका जहां सम्वेदन है, ज्ञानस्वरूप अपने आपका जहां ज्ञान हो रहा है, वहां ऊजड़को बसानेकी व बसोंको ऊजड़ करनेकी यह बात आती है। कैसा है यह स्वसम्वेदन, जिसका ज्ञान किया जा रहा है? निर्विकल्प। जैसा है सो है। समस्त पदार्थ निर्विकल्प हैं। पर एक जीवपदार्थ ही ऐसा विलक्षण है कि वह मूलमें निर्विकल्प होकर भी विकल्परूप परिणम रहा है। धर्म अधर्म आकाश पुद्गल भी अणु भी सब जो हैं सो हैं, अखण्ड हैं। उनमें जो होता है पूर्ण होता है। वहां अधूरेपनकी बात नहीं है। अधूरापन तो जीवमें भी नहीं है, पर यह अपने उपयोगको जो चलित रखता है, विकल्प करता है उन विकल्पोंसे इसमें फर्क आ गया।

सब द्रव्यों मे प्रधान मुख्य जीवद्रव्य है, प्रधान भी है, सबसे बढ़िया भी है और सबसे गया बीता भी बन रहा है और पदार्थ हैं सब जो हैं सो हैं। न वे बढ़िया है, न गये बीते हैं। पर जहां उत्कृष्ट सबका व्यवस्थापन आनन्दस्वरूप होनेकी जिसमें कला है उसीमें गया बीतासा दुःखी निकृष्ट स्थानमें पहुच सके ऐसी भी बात चलती है। जब यह जीव परम आनन्दस्वरूप निर्विकल्प धर्मतत्त्वका सम्वेदन कर रहा है उस समय में यह ऊजड़ोंको तो बसा लेता है। ऊजड़ हैं शुद्ध आत्मानुभवके परिणाम। जो नहीं हैं, जो यह ज्ञानानन्दघन व्यक्तिमें भी आये, ऐसी स्थिति स्वानुभूतिसे पहिले नहीं थी इस जीवकी। तो उस स्थितिको तो बसाता है जो स्थिति रागद्वेषरहित तात्विक चिदानन्दके उच्छलन पर, उठने पर, उपयोगमें आने पर निर्भर है ऐसा जो शुद्ध आत्मा का अनुभव परिणाम है उसे तो बसा लेता है और जो बसे हुए हैं उनको ऊजड़ करता है।

बसनेका अर्थ यहां है भरपूर बना देना। जिस स्वसम्वेदन ज्ञानसे शुद्धोपयोगको उसने बसाया उसी स्वसम्वेदन ज्ञानसे ये भरित हो गए, अर्थात् शुद्ध आत्माके अनुभवके समयमें जो परिणमन है, तृप्तिका उत्कृष्ट आनन्द अनुभवनसे वह भरपूर है। तो यह चीज नहीं थी, उसे भरपूर कर दिया, और जो चीज बसी हुई है इसमें, क्या बस है? विकल्प जाल। जो भी अपने आपके शुद्ध चैतन्यरूप निश्चय प्राण का घात करने वाला है, जो अपने आप पर ही ऊधम मचा रहा है, घात कर रहा है, ऐसे जो हिंसादिक विकल्प आदिक जो समस्त विभाव परिणाम हैं वे

इस जीवमें बसे चले आ रहे हैं अनादिसे। इस बसे हुएको ऊजड़ कर देते हैं, नहीं रहने देते हैं। स्वसम्वेदन ज्ञानकी प्राप्तिसे पहिले ये सब परिणाम बसे हुए हैं उनको शून्य कर देते हैं, ऐसे जो योगी पुरुष हैं उनकी मैं बलि करता हूं, अर्थात् मस्तकके ऊपरी भाग पर उन्हें उठाता हूं, पूजता हूं, उन्हें अपने मस्तक पर रखता हूं, ऐसी उन योगियोंकी यहां योगीन्दु देव प्रशंसा कर रहे हैं। उनके गुणोंको क्या बता रहे हैं, वे स्वयके गुणोंका विकास कर रहे हैं।

ऐसे योगियोंके पुण्य और पाप दोनों ही नहीं हैं। जो शुद्ध आत्मतत्त्वसे विपरीत भाव है-पुण्यभाव और पापभाव-ये दोनों प्रकारके शुभ अशुभ भाव उस शुद्ध आत्मानुभवके समय में, जहां कि उजडे हुए आत्मानुभवके परिणामों को बसाया गया है और बसे हुए दुष्ट विकल्प जालों को मना कर दिया है, ऐसी स्थितिमें उन योगियोंके न शुभ भाव है और न अशुभभाव है। अब इस निर्विकल्प समाधिरूप परम उपदेशको और भी दोहों द्वारा कह रहे हैं।

तुट्टइ मोह तडित्ति जहि मणु अत्थवणह जाइ।
सो सामइ उवएसु कहि अण्णे देवि काइ ॥१६१॥

हे स्वामी! मुझे उस उपदेशको कहो जिससे मोह शीघ्र छूट जाय और यह चचलता स्थिरताको प्राप्त हो। अन्य देवसे क्या प्रयोजन है? भैया! यह मोह टूट सकने लायक है क्योंकि यह स्वभाव भाव नहीं है। निर्मोह जो शुद्ध आत्मद्रव्य है उसका यह प्रतिपक्षरूप है। जैसे एक दर्पण में कोई छायाका प्रतिबिम्ब आ गया तो वह छाया प्रतिबिम्ब हट जाने लायक है क्योंकि वह दर्पणमें दर्पणके स्वभावसे, स्वरूपरससे छाया प्रतिबिम्बित नहीं हुई। हुई भी दर्पणमें, पर उपाधिका सन्निधान पाकर हुई, अतएव वह हट सकती है। दर्पणका स्वभाव भाव नहीं है। इसी प्रकार आत्मामें जो मोहभाव है वह आत्माके लक्षणभूत ज्ञानसे, ज्ञायकभावसे उठकर नहीं हुआ, अर्थात् उसके सत्त्वके कारण ही नहीं हो गया। हुआ वह आत्मामें, परन्तु परउपाधिका सन्निधान पाकर जो निमित्तरूप परिणमन है वह टूट सकता है। उसको तोडने का उपाय बताया जा रहा है।

हे प्रभो! ऐसा वह कौनसा भाव है, कौनसा तत्त्व है जिस तत्त्व के उपाय से, दृष्टि से यह मोह टूट जाता है कि वह कौन सा उत्तम पदार्थ है? वह उत्तम पदार्थ कहीं बाहर नहीं है जिसका आलम्बन करने से मेरा मोह टूट जाय। वह अपने आप में ही है और इस मोहसे अन्तर में दबा पड़ा हुआ है। यह मोह ऊपरी मल याने पर्यायरूप आया हुआ मल

भीतरके बलसे अपने ही स्वरस से स्वभावके अन्तरमें से उठा हुआ जो परमात्मस्वभाव है उस स्वभावके आलम्बनस, दृष्टिसे, विकास से यह मोह टूट जायगा। उसका आश्रम करना है मोह के विनाश करने के लिए जो मोह रहित हो, निर्मोह ही और स्वाधीन हो, उसका आलम्बन लेने से यह मोह भाव दूर हो सकता है। जो निर्मोह है और स्वाधीन है, सदा अपने निकट है ऐसा तत्त्व है परमात्मा पदार्थ ज्ञायकस्वरूप हो। उसका आश्रम लेनेसे यह मोह टूट जाता है।

यहा प्रश्न रूपमें कहा जा रहा है कि वह कौनसा भाव है जिसका आश्रम लेने पर मोह टूट जाता है ? और फिर क्या होना है कि यह मन स्थिरता को प्राप्त हो जाता है। मन क्या है ? नाना विकल्पों का जो समूह है वही मन है। विकल्पजालका सतानभूत जो एक अवसाय है वह है, मन वह मन स्थिर हो जाय। यह मन भी मेरे शुद्ध आत्मस्वभाव से विपरीत है। मनका स्थिर हो जानेका अर्थ यह है कि मनके विनाशका ही उपाय करना। मन स्थिर हो गया तो फिर मन जवान कहा रहा ? वह तो मरसा ही गया। कहते भी हैं कि अजी उस तरफ चित्त न दो, अपने मनको मार दो। तो मनके मारनेका अर्थ यह है कि विकल्पों में जो घूम रहा है मन, वह विकल्पों में न चले, उसीके मायने हैं मनकी स्थिरता और मनका मारना।

जैसे इच्छा की पूर्ति और इच्छा का नाश—ये दो चीजें अलग नहीं हैं। इच्छाके नाशका ही नाम इच्छा की पूर्ति है। बस हमारी तो इच्छा पूरण हो गयी, इसका अर्थ यह है कि हमारी अब वह इच्छा नहीं रही। इच्छाकी पूर्ति जैसे किसी कपड़ेके बोरेमें अनाज भर दिया जाय इस तरहसे इच्छाकी पूर्ति नहीं होती। इच्छा बनाओ, मजबूत करो, खूब इच्छा भरलो, उससे इच्छा की पूर्ति नहीं होती। इच्छा न रही, यही इच्छा की पूर्ति है। कोई भी आराम या विषयसाधन किया, जिसमें यह जीव इच्छा की पूर्ति मानता है। तो जब उसकी इच्छा पूर्ण होती है उस समय की उसकी क्या स्थिति होती है कि उस तरहका ख्याल नहीं रहा, इच्छा नहीं रही। तो जैसे इच्छाके विनाशका ही नाम इच्छाकी पूर्ति है इसी तरह मनके मर जानेका ही नाम मनकी स्थिरता है।

भैया ! एक ओर अपना उपयोग लग गया तो मनका जो काम था वह नहीं चल रहा है। मनका काम है चंचलना, विकल्पजालसे उठा उठा फिरता रहे। बन्दर तो अत्यन्त चचल होता है। जैसे बन्दर कभी स्थिर नहीं बैठ सकता, कभी हाथ हिलायेगा, कभी आखे मटकायेगा, इसी तरह

यह मनरूपी बन्दर बड़ा चंचल है। क्षणभरमें ही लाखों हजारों मील पर चला जाय। जहां कुछ भी परिचय किया, वहां जाने मे इसे देर ही नहीं लगती। कोई चीज जाये तो उसमें गति होती है। शब्दकी गति है। वह कितनी देरमें चलकर कहां पहुंच सकता है ?

पर मन की गति नहीं है तुरन्त जहा चाहे पहुचता है। जैसे बरसातके दिनों में जब बिजली चमकती है तो उसका रूप दिखने के बाद एक आध मिनट बाद कड़कड़ाहट सुनाई देती है। तो जिस समय उजेला हुआ उसी समय बादलों मे कड़कड़ाहट हुई। पररूप के विषयको तो देर नहीं लगती है। बिजली चमकी और तुरन्त ही दिख गयी, और वहां जो शब्द निकलता है उस शब्दकी सुनवायी देरमें होती है। कडकड़ाहट देकर ही गाज गिरती है। उजेला और शब्द दोनों एक साथ होते हैं, पर उजेला दिखने के एक आध मिनट बादमें शब्द सुनाई देता है। तो शब्दकी गति है, पर मनकी गति नहीं है। जैसे रूपको तुरन्त देख लिया नेत्रने इसी तरह कितनी ही दूर हो कोई, तुरन्त विकल्पमे आता है। क्षणमें यह मन कहा भागता है, क्षणमे कहा भागता है ? जहा-जहां इस जीवको राग है, जहा-जहा इसने अपना स्वाथ माना है वहां-वहां यह मन क्षणमें दौड़ता भागता है, इसलिए यह मन स्थिर हो जाय ऐसा कोई उपाय बतावो। ऐसा इस दोहेमें बताया जा रहा है।

हे स्वामी ! मुझको ऐसा उपदेश करो, यों प्रभाकरभट्ट योगीन्दुदेव से पूछ रहे हैं। उस निर्दोष परमात्मतत्त्व से भिन्न अन्य देव से मुझे प्रयोजन नहीं है। जो परम आराध्यस्वरूप है उस स्वरूपसे भिन्न अन्यका मुझे प्रयोजन नहीं है। भगवान की भी जब भक्ति करते हैं तो भगवानमे उस परमात्मस्वरूपको ही हम देखते हैं। व्यक्तिगत सत्ताका हम आश्रम नहीं लेते हैं। हम शुद्ध मनसे, यथार्थ विधिसे भगवानकी भक्ति करते हैं तो भगवान् एक परम निर्मल आत्मा है, एक सद्‌भूत पदार्थ है, भिन्न अस्तित्त्व वाला है, इस ओर दृष्टि भी दी, किन्तु वह जो स्वरूप है, निर्दोष ज्ञातादृष्टा रूप जो स्वरूप हैं मात्र उस स्वरूपपर दृष्टि रहती है। जैसे यहा किसी धनिकसे कोई सम्बन्ध किया जाय तो वहा व्यक्तिगत सत्ता ध्यानमें रहती है, स्वरूप ध्यानमें नहीं है। इस तरह व्यक्तिगत सत्ताका ध्यान भगवद्भक्ति मे नहीं रहता।

भैया ! भगवद्भक्ति में यथार्थभक्तिका ध्यान रहता है। वहां तो शुद्ध आत्मस्वरूप ध्यान में रहता है। यद्यपि आलम्बन लेते हैं परकी ओर उस परमात्माकी भक्तिमें, पर भक्ति करते समयमें परआलम्बन नहीं रह पाता

सो कहते हैं कि यह नासासे निकली हुई उच्छ्वास जिस शून्यमें विलीन होती है—नासविनिर्गत श्वासको भी एक व्यवहारनयसे कहा है। करना तो अपने उपयोगको ही उस शून्यमें लीन है। पर श्वासका अधिक सम्बन्ध है, ध्यानविधिमें प्राणायामका वर्णन है। वह प्रयोग ध्यानका कुछ ऊपरी साथी है। इसलिए श्वास शब्दको लेकर ही बताया है। भाव तो यह है कि निकले हुए उपयोगको उस शून्यमें लीन करना है। श्वास निकली अर्थात् यह जो उपयोग निकला, ज्ञान जो बाहर चला, विकल्पजाल जो उठा, जो कि श्वासकी तरह सूक्ष्म है, उससे भी अधिक है। वह उपयोग जिस अम्बरमें विकल्पजालसे रहित ज्ञानज्योतिस्वरूपमें लीन किया जाता है—कहते हैं कि मोह वहीं टूटता है।

भैया! अपनेको विविक्त देखें, मैं सबसे जुदा हूं, किसीसे मुझे कुछ लाभ नहीं है, यह चीज अपने ज्ञानमें उतरती हुई सी रहे। यह मैं अकेला ही हूं, अकेला ही था, अकेला ही रहूंगा। दूसरा कुछ भी साथ नहीं है, कोई भी साथी नहीं। तो यों विविक्त शुद्ध देखनेसे शुद्धस्वरूपके अनुभवका परिणाम जगता है। विकल्पजालोंसे ही यह अपनेको कुछ भरापूरा देखा करता है, पर यह सब भ्रम है। ऐसी विविक्त दृष्टि जब अपनेको आती है तब वहा मोह टूट जाता है। अपने आपको सूना, परसे विविक्त रहित, इस तरह अपनेको उपयोगमें लें लो मोह टूटता है। और जहा ऐसे विविक्त निज तत्त्वकी दृष्टि छोड़कर बाहरके पदार्थोंमें उपयोगको लगाया तो वहा तो मोह बढेगा, राग होगा। मोह राग मिटानेका एक ही यत्न है कि हम सूने निजका जो केवल ज्ञानज्योतिर्मय है, प्रतिभास मात्र है, जिसका कुछ नहीं है, जिसमें और किसीका प्रवेश नहीं है, केवल है, खाली है, सूना है, उस सूनेमें अम्बरमें प्रवेश करे तो मोह टूटता है।

जैसे कभी यह कहते हैं कि यह कमरा सूना है अर्थात् उस कमरेमे न कोई आदमी बैठा है, न कोई चीज रखी गई है। केवल कमरा ही कमरा है। तो केवल कमरा ही कमरा रहनेकी स्थितिको कहते है कि कमरा सूना है। इसी तरह इस आत्मामें आत्मसत्त्वके कारण जो है, सो तो कही जाता नहीं, वह तो है ही है। पर उसमें अपने असाधारणस्वरूपके अतिरिक्त और कुछ चीज न हो उसे कहते हैं शून्य। न कर्म, न विभाव, न विकल्पजाल, न किसीके विकल्परूपको ग्रहण करना। जहां ये कुछ भी नहीं हैं उस निज आत्मतत्त्वको कहेंगे सूना। ऐसे सूने निज स्वरूपमें यह उपयोग विलीन हो, यह श्वास विलीन हो तो मोह मिटता है और उस ही जगह यह मन स्थिरताको प्राप्त होता है।

भैया ! किस जगह मनस्थिरताको प्राप्त होता है ? जहां निर्विकल्प समाधि है उस जगह। विकल्प न उठे, केवल ज्ञानमात्रकी स्थिति हो। ज्ञानमात्रकी भी क्या स्थिति ? केवल प्रतिभासमात्र अनुभवन, परिणमन जहां कुछ विकल्प नहीं। इसलिए निर्विकल्प समाधि जो कि परम आनन्द से भरी हुई अवस्था है, केवल शून्य हो सो नहीं है। वह ज्ञानानन्दकी शुद्ध अवस्था है पर उस ज्ञानानन्द की शुद्ध अवस्थामें जो बाहरी विकल्पोंका ग्रहण नहीं है इसी कारण वह सूना कहलाता है। ऐसे सूने निज परमात्म पदार्थमें यह श्वास विलीनताको प्राप्त हो जाय, वहां मोह टूटता है।

इस उपदेशमें ध्यानकी प्रकृतियोंका भी संकेत है कि श्वास नासिका के द्वारको छोड़कर अम्बरमें विलीन हो जाय अर्थात् तालुस्थानके छिद्रसे निकल जाय ऐसे ध्यानसे मन स्थिरता प्राप्त करता है, मोह टूट जाता है। प्रकृत्या उस ध्यानमें ऐसी स्थिति आती है जब बड़ी स्थिरताकी स्थिति हो। उस समय बताया गया है कि यह श्वास फिर नासिकासे न निकल कर तालूके छिद्रसे आकाशमें फैल जाती है अर्थात् ऐसी स्थिर अवस्था है कि नासिका द्वारसे निकलनेका भी श्रम वहां नहीं होता। उसमें भी श्रम है ना। जैसे हम श्रम करते बहुत तेज श्वास निकालें तो। कम गतिसे निकालें तो कम श्रम है। बहुत कम गतिसे निकालें तो बहुत कम श्रम है। पर श्रमका जहां नाम नहीं है ऐसी स्थिति ध्यान अवस्थामें आती है। वहां श्वास नासिका द्वारको छोड़कर तालुरन्ध्रसे निर्गत होने लगती है। यहां करने योग्य यह बताया है कि ऐसे विकल्पजालोंसे शून्य निज परमात्मपदार्थमें यह उपयोग विलीन हो तो मोह मिटता है।

यहां यह बतला रहे हैं कि जिस अम्बरमें श्वास विलीन की जाती है वहां मोह टूटता है, इसमें आचार्यदेवका भाव यह है कि यह जो निर्विकल्प समाधि है वह अम्बरकी तरह शून्य है। रागादिक विकल्पजालोंसे रहित ऐसे निर्विकल्प समाधिपरिणामसे यह श्वास विलीन होती है। श्वास विलीन होनेका अर्थ यह है कि यह श्वास जब ऊँचे ध्यानकी स्थिति होती है तो नासिकासे न निकलकर तालुके छिद्रसे निकलती है। यही है समाधि में श्वासका विलीन होना। ऐसी समाधिकी स्थितिमें मोह टूटता है। उस निर्विकल्प समाधिमें बाह्य बोध नहीं रहता है। बाह्य बोध विकल्पसे रहता हुआ होता है। ऐसी निर्विकल्प समाधिमें मन अस्तको प्राप्त होता है। अर्थात् रागादिक विकल्पोंका आधारभूत जो यह मन है विकल्पजाल वह अस्तको प्राप्त होता है अर्थात् अपने स्वभावमें आने पर मनकी चंचलता नहीं रहती।

अब इसीका वर्णन योग साधनकी दृष्टिसे किया जा रहा है कि जिस यह जीव रागादिक परभावोंसे शून्य जो निर्विकल्प समाधि है, त्मउपयोगमें समाधिमें जब यह जीव ठहरता है तब यहांकी श्वासरूप वायु है वह नासिकाके दोनों छिद्रोंको छोड़कर स्वयं ही बिना चाही त्तसे तालुके छिद्रसे निकलती है। तालुका छिद्र बालकी अनीसे भी बहुत होता है। अनीके अष्टम भाग प्रमाण सूक्ष्म छिद्र होते हैं। जैसे ी बच्चेके सिरमें तालु देखा होगा, नीचा ऊंचा उठता हुआ। ऐसा ही लु सबके सिरके ऊपर बीचमें होता है तो उसमें बहुत सूक्ष्म छिद्र होते। जो बालकी मोटाई है उस मोटाई से भी बहुत हल्का छिद्र होता है। जब ध्यानकी बहुत ऊंची स्थिति होती है, कोई विकल्प नहीं रहता है ो स्थितिमें वह वायु तालुके छिद्रसे निकलती है, इसे बोलते हैं ामद्वार। तो ध्यानकी ऊंची स्थितिमे लौकिक जनों जैसी वायु निकले सा नहीं है किन्तु वहा तालुसे निकले थोड़ी देर, फिर थोड़ी देर नासिका निकले। थोड़ी देर वायु नासिकासे निकले और थोड़ी देर वायु तालुके देशसे निकले। इस तरहसे ध्यान अवस्थामे दोनों स्थानोंसे वायु निकलती ।

यह कथन इसलिए बताया जा रहा है कि अन्य लोग इस वायु ाको करके स्वरसका नाश मानकर मुक्तिका उपाय कह देते हैं, सो ोध कर देते हैं और उसमें अपने हितका उपाय बताते हैं, यही मोक्षका ार्ग है, ऐसा माने कोई तो उसका निषेध किया है कि वायुधारणा करके वासको रोक देना, खत्म कर देना, यह ग्रहण करने योग्य नहीं है क्योंकि युधारणा जो करेगा सो इच्छापूर्वक करेगा, और यह जो ध्यानकी ऊंची स्थितिमें वायुका स्वयमेव तालुप्रदेशसे भी निकलना, नासिका द्वारसे भी निकलना, ऐसा जो होता है वह स्वयमेव होता है। उन योगियोंकी वायु पर दृष्टि नहीं होती, इसे रोकना, थामना ऐसी श्वास वायुपर दृष्टि नहीं होती।

भैया! योगियोंकी दृष्टि तो केवल अपने स्वरूपकी ओर होती है। योगी पुरुष भगवत् स्वरूपका ध्यानकर उस स्वरूपमें ही तल्लीनतासे ध्यान करते हैं कि स्वयं ही बिना इच्छा किए वायु रुकती है और फिर तालुप्रदेश से नासिका द्वारसे, कभी तालुप्रदेशसे कभी नासिका द्वारसे यों वायु निकलती रहती है, और वायुधारणा करे तो वह इच्छापूर्वक किया जायगा।

वायुधारणाका अर्थ यह है कि बहुत धीरे-धीरे श्वासका लेना, जल्दी

श्वास न लेना किन्तु धीरे श्वास लेना और लेकर फिर उदरस्थानमें, हृदयस्थानमें रोकना। रोकनेके बाद फिर धीरे धीरे उसे छोड़ना इसे कहते हैं वायुधारणा। इसमें पूरक, कुम्भक और रेचक तीन प्रयोग हैं। श्वासको लेना, इसे कहते हैं पूरक। फिर उसे रोक लिया इसे कहते हैं कुम्भक और फिर धीरे धीरे निकालना, इसे कहते हैं रेचक।

इस तरह श्वासका लेना, रोकना, श्वासका धीरे धीरे बाहर निकालना ये जो स्थितियां होती हैं वायुधारणामें, सो यह तो क्षणमात्र तो सभीके होती हैं। कोई अभ्यास करे तो घड़ी भर भी हो जाय, पहर भर भी हो जाय, दिन भर हो जाय और कई दिन तक भी हो जाय। तो उसमें वायुधारणाकी जो क्रिया है उस क्रिया का फल यही है कि शरीरमें रोग न रहे, शरीर हलका हो जाय, यह फल तो होता है वायुधारण से। पर इस वायुधारणासे मुक्तिका कार्य नहीं होता है।

वायुकी धारणासे, प्राणायामसे, वायुको रोकनेसे एक-एक दो दो दिन समाधि लगाते हैं, ऐसी क्रियाओंसे मुक्ति नहीं होती है। उससे शरीर की आरोग्यता हो जाय, हलका हो जाय और लौकिक चमत्कार हो जाय, पर मुक्ति ज्ञानसे ही हो सकती है। ज्ञान बिना मुक्ति नहीं होती है क्योंकि यदि ऐसे प्राणायाम और वायुधारणासे मुक्ति होती तो आजकल भी लोग वायुधारणा करते हैं, २ दिन तककी समाधि, ७ दिन तककी समाधि लगाते हैं, श्वासको रोकते हैं, तो इससे मोक्ष क्यों नहीं हो जाता है? मोक्षका कारण तो मुख्य ज्ञान है। वायुधारणासे इतनी तो क्रिया है, इतना तो सहयोग है कि चित्तको एक जगह स्थिर कर दे। यह श्वासनिरोध, वायुधारणा चित्तको एक जगह स्थिर कर देनेकी धारणा तो है पर मुक्तिका कारण नहीं है। मुक्तिका कारण तो ज्ञान ही है। अब चित्त कहीं भी स्थिर हो जाय।

एक कथानक है कि एक समाधि लगाने वाले संन्यासीने राजासे कहा कि हम एक दिनकी पूरी समाधि लगाते हैं। राजाने कहा कि अच्छा अपनी समाधि दिखावो। यदि आपकी समाधि बराबर ठीक रहेगी तो तुम्हें मनचाहा इनाम मिलेगा। इतनी बात सुनते ही सन्यासीने अपने चित्तमें सोच लिया कि एक दिनकी समाधि दिखाकर अमुक चीज लेंगे। क्या लेगा, सो समाधिके बादमें कह देगा। लगाया अपनी समाधि। ज्योंही समाधि समाप्त हुई त्योंही तुरन्त बोला, क्या कि लावो काला घोड़ा। काला घोड़ा उसे पसद था इसलिए उसे ही मनमें रखे रहा। पूरे दिन भर को अपने चित्तमें उसने काले घोडेको रोक लिया।

सो वायुधारणासे चित्त एकाग्र तो हो जाता है पर वस्तुस्वरूपका यदि ज्ञान हो तो उस प्राणायामसे चित्त स्थिर तो हो ही गया है, वस्तुस्वरूपका ज्ञान करले तो उस वस्तुस्वरूपकी ओर चित्त स्थिर होने से इसे मोक्षमार्ग मिलेगा।

प्राणायाम और वायुधारणा चित्तके स्थिर करनेमें सहायक है, सो इच्छापूर्वक जो वायुकी धारणा करते हैं और वायुधारणा करके श्वासको विलीन करते हैं, नाश करते हैं, रोकते है वह मोक्षके लिए ग्राह्य नहीं है।

एक चित्तसे स्थिर मन, वचन, काय करके समस्त परवस्तुओं से न्यारा जो निज ज्ञायकस्वरूप है उस ज्ञायकस्वरूपमें अपने उपयोगको स्थिर करो, एक यह ही यत्न रखो, यह ही दृष्टि करो तो उसमें ऐसी स्थिरता होगी कि उसके कारण श्वासका निरोध होगा। श्वासका निरोध सूक्ष्म वृत्ति से, नासिका द्वारसे या ब्रह्मरन्ध्रसे, ब्रह्मरन्ध्र कहो या तालु कहो, छेद कहो, दशमद्वार कहो, एक ही चीज है। ६ द्वार तो होते ही हैं, आंख, कान, नाक, मुँह, और दशमद्वार हुआ तालुके ऊपर जो छिद्र होते हैं वह तालुस्थान। वहां से भी श्वास निकलती है, नासिकासे भी श्वास निकलती है ऐसी स्थिति बताई है कि जब निर्विकल्प चैतन्यस्वरूपमात्र ज्ञायकस्वभावकी दृष्टि होती है तो निर्विकल्प स्थिति होती है। उस निर्विकल्प स्थितिके ध्यान में मोह टूटता है। और भी इसी बातको कहते हैं।

मोहु विलिज्जइ मणु मरइ तुट्टइ सासु णिसासु।
केवलणाणु वि परिणमइ अंबरि जाहि णिवासु॥ १६३॥

जिन मुनीश्वरोंका अम्बरमें निवास है—अम्बरका अर्थ है परम समाधि। आकाशकी तरह जो शून्य भाव है अर्थात् रागादिक विकल्पोंसे रहित परिणाम है ऐसी निर्विकल्प समाधिमें जिनका निवास है उनका मोह नाशको प्राप्त होता है, मन मर जाता है, श्वास रुक जाती है और केवल ज्ञानरूपसे परिणमन हो जाता है। उस निर्विकल्प स्थितिमें जो ध्यान है वह केवल ज्ञान उत्पन्न होने का कारण है। उस स्थितिमें श्वास रुक जाती है। इसका अर्थ यह है कि लौकिक पुरुषोंकी भांति श्वास नासिकाके द्वारसे वेग पूर्वक नहीं निकलती है किन्तु कभी तालुके द्वारसे सूक्ष्मरूपमें और कभी नासिकाके द्वार से निकल कर विलीन हो जाती है। विलीनका अर्थ है कि जैसे लौकिक पुरुषों की श्वास निकलती है श्रमसहित नासिका द्वारसे, ऐसे श्रम सहित उन योगीश्वरोंकी श्वास नहीं निकलती है।

यह मन मर जाता है इसका अर्थ यह है कि समस्त विकल्पजाल शांत हो जाते हैं। विकल्पजाल में क्या है? आकार है, परिणमन है, इस

लोकके वैभवकी इच्छा करना, परलोकमें अपने सुख साताकी चाह करना यह ही विकल्प है। इन्हीं रूप यह मन है। भावमनकी बात कह रहे हैं। भावमन होता है विकल्परूप। भावमन मर जाता है अर्थात् विकल्प शांत हो जाते हैं। तब यह वायु बिना चाही वृत्तिसे नासिकाके द्वारको छोड़कर क्षणमात्र तो तालुके छिद्रसे निकलती है। क्षणमात्रमें नासाद्वारसे ऐसी वायु आती और जाती रहती है, इसीको कहते हैं श्वासका रुक जाना। उस ही स्थितिको निर्विकल्पसमाधि की स्थिति कही गयी है। किसीके निर्विकल्प-समाधि पूर्ण समय तक हो तो वह केवल ज्ञानका भी कारण है। और दृढ़ता नहीं है तो वह नहीं भी कारण है पर समाधिके समयकी स्थितिमें जो ध्यान होता है उस ध्यानमें यह वायु स्वयं ही ऐसी रुक जाती है। तो समाधि जैसे ऊंचे ध्यानमें यह श्वास और उच्छ्वास लौकिक जनोंके वायु श्रमसहित निकलती नहीं है। और लोग तो चाह करके इस वायुका निरोध करते हैं, वायुधारणा करते हैं। धीरे-धीरे श्वास लिया, फिर हृदयमें रोक लिया, फिर धीरेसे श्वासको छोड़ दिया। तो जो प्राणायामकी क्रियावोंको करते हैं और मुक्तिका अंग मानते हैं उनकी दृष्टि उस वायु पर ही रहती है। ऐसी उन क्रियावोंसे तो मुक्ति नहीं है। हां ये क्रियाएं चित्तकी स्थिरताके साधक तो हैं, पर ज्ञान न हो तो जहां को मन चाहा वहांको मन ले जायगा। तो ज्ञान बिना मुक्ति नहीं होती, ज्ञान बिना शुद्ध ध्यान नहीं होता और ऐसी स्थिति जब विशेष हो जाती है जहां अम्बर में भी श्वास विलीन हो जाती है। अम्बरका अर्थ आकाश नहीं, निर्विकल्पसमाधि है। और श्वासके विलीन होनेका अर्थ है कि सूक्ष्म गतिसे, अनीहित वृत्तिसे बिना चाहे कभी तालुके छिद्रसे निकले, कभी नासिका द्वारसे निकले, ऐसी स्थिति बन जाती है। उस स्थितिमें मोह टूट जाता है। जिनका निवास परमसमाधिमें है उनका मोह टूट जाता है।

इस परमसमाधिको अम्बर शब्दसे कहा है। जैसे आकाश शून्य है वैसा ही अपना स्वरूप है। पर जैसे एकदम साफ अनुमानमें आता है कि इस आकाशमें कुछ भरा नहीं है, कुछ इसमें पकड़ने वाली चीज नहीं लगी है। तो जैसा निर्लेप यह आकाश है इसी तरहकी निर्लेप जो एक भावना है, ध्यानपरिणति है, ज्ञानानुभवन है जहां रागादिकका लेप नहीं है ऐसी परमसमाधिको अम्बर शब्दसे कहा है। जो रागद्वेष मोहरूप विकल्पजाल से रहित है और शुद्ध आत्माका सम्यक् श्रद्धान करता है वह शुद्ध आत्मतत्त्व का ज्ञान है। शुद्ध आत्मतत्त्वमें अनुचरणरूप रत्नत्रय भव प्रकट है। शुद्धआत्मा अर्थ है केवल आत्मा अर्थात् इस आत्माके ही सत्त्वके कारण

आत्माका जो स्वरूप है तन्मात्र अर्थात् विविक्त निर्लेप परवस्तुके संयोग से रहित जो उपाधिजन्य विभावोंकी भी जहा कल्पना न की जाय, ऐसा केवल निज स्वरूप चतुष्टय मात्र जो शुद्धआत्मतत्त्व है उसकी श्रद्धा हो। श्रद्धा कहते हैं जिससे हित होता है—जिसकी दृष्टि करनेसे अहित सब दूर होता है, ऐसे आश्रयको श्रद्धा कहते हैं। उसमें रुचि हो जाय। रुचि उसमें ही होती है जिसके प्रति हितकी श्रद्धा है। ऐसे शुद्ध आत्मतत्त्वका श्रद्धान और ज्ञान और उस ही में लगने रूप अपना यत्न हो, वृत्ति हो याने क्या चाहें, कहा लगें, हमी जैसे किसीके मनमे जो बात होती है तो जब भी अवसर पाता है वहीं लगता है, इसी प्रकार ज्ञानी जब भी अवसर पाता है, जब चाहे तब कभी भी जल्दी जल्दी वहा अपनी ओर ही झुकता है, अपने आत्माकी ओर ही लीन होता है। शुद्ध आत्मतत्त्वकी ओर अर्थात् अपने स्वरूपमात्र। उस शुद्ध आत्मामें जिसका निवास है, कहते हैं उन्हें यह बात होती है कि मोह विलीन होता है, मन मर जाता है, मोह टूट जाता है याने रुक जाता है। लौकिक पुरुषोंमे जैसे श्वासकी धारा एक निश्चित् रूपमें रहती है, यहा श्वास छिन्न हो जाती है, वह उस धारामें नहीं निकलती, यह श्वासकी दशा है और यह विकल्पोंकी स्थितियोंसे श्वास की धारा होती है। यहां यह श्वास तालुके उस छिद्रसे जो केशकी मोटाईके अष्टम भाग प्रमाण सूक्ष्म है, कभी वहासे सूक्ष्मरूपमें निकलती है, कभी नासिकासे उसकी गति छिन्न हो जाती है। ऐसी जहां स्थिति हो वहा मोह टूटता है। यहां अम्बर शब्दसे शुद्ध आकाशका ग्रहण न करना। केवल आकाशके आकाशमे श्वास विलीन होती है या आकाशमें जिसका निवास है। आकाशमें निवाससे प्रयोजन नहीं है किन्तु विषयकषायोंके विकल्पोंसे रहित जो परमसमाधि अवस्था है उसे यहां अम्बर कहा है और वायुका निरोध होता है, टूटता है, रुकता है, इससे मतलब वायु-धारणा न लगाना, जो कुम्भक, रेचक, पूरक रूपसे होता है और यह साधना योगियोंमे यहा तक हो जाती है कि वे जगलमे अपनी विशेष प्रक्रिया द्वारा हवाको खा लेते हैं और उनकी भूख शांत हो जाती है। यह योगियोंकी धारणा है जो प्राणायाम करते हैं। वे कितनी ही प्रक्रियाएँ करते हैं। मुँह फैलाकर जिह्वा निकालने पर वायुधारणा करके, कल्पना करके वायुसे अपनी क्षुधा शात कर लेते हैं। कितने ही चमत्कार करलें, सो भी यहा कह रहे हैं कि उस वायुधारणाके द्वारा देह निरोग हो जाय, देह लघु हो जाय, और भी कई चमत्कार करें, श्वासको कई दिन रोक लें, ये सब हो सकते हैं, पर मुक्ति नहीं हो सकती है। मुक्तिका कारण तो शुद्ध

आत्मतत्त्वका श्रद्धान, ज्ञान, आचरण है, जो कि ज्ञानरूप है। ज्ञान बिना मुक्ति नहीं होती है। तो वह वायु निरोध प्राणका करना, किन्तु स्वय ही बिना चाही वृत्तिसे निर्विकल्प सत्त्व द्वारा जैसा ब्रह्मरन्ध्र है उससे शून्य रूप जो निकलता है वह वायु विलय समझो। कहते हैं कि जिस अम्बरमें वायु विलय हो जाता है उसका अर्थ निर्विकल्प समाधिसे है। वहां मन मरता है, मोह टूटता है और श्वास निष्काशन होता है। श्वासनिष्काशनका अर्थ है कि बिना चाही वृत्तिके बिना श्रम, बिना उपयोग वह श्वास कभी तालुसे और कभी नासिका द्वारसे निकलती है। उस स्थिरतामें मन मरता है। पवन लयको प्राप्त होता है, यही श्वासका रुकना है और इस समय सर्व अंश तीन भुवनके समान हो जाते हैं अर्थात् केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है। केवलज्ञानका विकास आत्माकी निर्विकल्पसमाधिमें स्थापित करता है। आकाशके जाननेसे मोह नहीं मिटता, किन्तु आत्मस्वरूपके जाननेसे मोह मिटता है। जो शून्यरूप समाधि अन्यत्र कही गयी है वह पूर्णशून्या नहीं है विकल्पजाल नहीं है इसलिए तो शून्यरूप है किन्तु अपने आपमें तो ज्ञानानंद रस निर्भर है, भरपूर है ऐसे जहां विभावोंकी शून्यता हो जाती है वहां केवलज्ञान उत्पन्न होता है। भाव, बिल्कुल शून्य हो जाय ऐसा शून्य नहीं कहा गया है। तो यहां भावार्थ यह लेना है कि हम अपनेमें केवल आत्मतत्त्व मायने आत्माके सत्त्वके ही कारण जो आत्माका स्वरूप है चैतन्यमात्र, प्रतिभासमात्र, ऐसी स्थिति जहां तक बने उसको अपने ज्ञानमें लें और वहां उपयोग स्थिर करें तो मोहका टूटना, मनका मरना, संकटोंसे हटना, समस्त बातें इसके प्रकट हो सकती हैं।

अब यह बतला रहे हैं कि मुनिका उपयोग जब अम्बरमें रहता है, अम्बरका अर्थ है रागद्वेष रहित निज स्वरूप, निज स्वरूपमें रहता है उस समय मोह टूट जाता है, मन मर जाता है और श्वास रुक जाती है। तो अम्बरका अर्थ यहां आकाश नहीं लगाना क्योंकि आकाशके जाननेसे मोह नहीं मिटता है और भाव यह लेना है कि जैसे आकाशमें पोल है, सूनापन है इसी प्रकार आत्मामें भी सूनापन है, रागादिक भाव नहीं हैं, उसका ही मात्र उसमें स्वरूप है और श्वास रोकनेका अर्थ लेना कि बिना चाही वृत्तिसे सूक्ष्मरूपसे यह श्वास तालुसे भी निकलती है और नाकसे भी निकलती है ऐसी स्थिति निर्विकल्प समाधिमें होती है और उस निर्विकल्प समाधिसे केवलज्ञान प्राप्त होता है।

जो आयासइ मणु धरइ लोयालोयपमाणु।
तुट्टइ मोहु तडत्ति तसु पावइ परहँ पवाणु ॥१६४॥

आंख कितनी जगहमे है ? तो कह देते हैं कि हमारी आंख मील भरमें है, कमरे भरमें है, मायने जितनेमें आखसे देख रहे हैं उस सबको आखसे कह देते हैं। आपकी आख कितनेमें फैल गई है ? तो सारे कमरेमें फैल गई है और निश्चयसे देखा जाय तो आखका जितना स्थान है उतनेमें ही यह आख है, उतनेसे बाहर नहीं है। इसी तरह भगवान कितनेमें फैला है ? लोकालोकमें फैला है।

ज्ञानकी अपेक्षा भगवान लोकालोकमे व्यापक है अर्थात् भगवानका ज्ञान लोकालोकको जानता है। इस कारण भगवान सर्वत्र व्यापक है, पर प्रदेशकी अपेक्षा वह एक शुद्ध चैतन्य जो निर्दोष है, सर्वज्ञ है वह कितनेमें विस्तृत है ? तो वह मात्र अपने प्रदेशमें विस्तृत है। जैसे रूप ग्रहणके सम्बन्धमें चक्षुको व्यवहारसे सर्वगत कहते हैं, जहा तक जान रहे हैं देख रहे हैं आखसे वहा तक यह आख फैली है, पर निश्चयसे देखा जाय तो ये चक्षु सर्वगत नहीं हैं। जैसे आखसे देखे तो सब दिख गया। यह आंख कमरेमें भी है, सींसीमें भी चली गयी और आग दिख रही होगी तो आग में भी चली गयी। पर आख, आखमें है या प्रदेशके रूपसे है ? विषयोंके रूपसे है, देखनेके रूपसे है।

क्या आख आगमें चली गयी ? अगर आंख आगमें चली गयी तो फूट जायेगी। तो प्रदेशकी अपेक्षासे आख आगमें नहीं है, देखनेकी अपेक्षासे आंख आगमे है। इसी तरह भगवान ज्ञानकी अपेक्षासे सारी दुनियामें फैला है पर प्रदेशकी अपेक्षासे तो भगवानका जितना आत्मा है, जितना क्षेत्र है उतनेमें ही फैला हुआ है। यदि यही आंख निश्चयसे सर्वगत हो जाय, प्रदेशकी अपेक्षा भी सर्वगत हो जाय तो जैसे अग्निके छूनेसे दाह पैदा होती है इसी तरह देखनेसे आंखमें दाह पैदा हो जाय, पर ऐसा नहीं होता है। इसी तरह हमारा ज्ञान सबमें फैला हुआ है किन्तु परमें तन्मय है।

हम दूसरेके दु खको भी जान रहे हैं, इसको इतना बुखार है, इतना दर्द है, इतनी पीड़ा है ऐसा हम ज्ञानसे जान रहे हैं दूसरे को, पर व्यवहार से जान रहे हैं या निश्चयसे जान रहे हैं ? अर्थात् हम जाननके रूपसे ही जान रहे हैं या हमारा यह आत्मा उस जगह चला गया है (दूसरेके आत्मा में)। दूसरेके दु खको हम व्यवहारसे ही जान रहे हैं निश्चयसे तो हम अपने आपके प्रदेशमे हैं। सो जो कुछ हो रहा है वह मेरा मेरे ही प्रदेशमें हो रहा है, बाहरमें कुछ नहीं हो रहा है। तो हम निश्चयसे दूसरेके दु ख को जाने, दूसरेके दु खमें प्रवेश कर जायें, तन्मात्र हो जायें तो हमें उसके

दुःखका अनुभव हुआ करेगा, पर अनुभव नहीं होता। अनुभवमें और ज्ञानमें फरक देखो। अपनेको १०० डिग्री बुखार चढा हो तो खुदको तो बुखारमें अनुभव होता है और दूसरेके १०४ डिग्री बुखार थर्मामीटरसे देख रहे हैं, पर इतना जान लेनेके बाद भी उस बुखारका अनुभव होता है क्या ? तो उस जानने वालेने दूसरेके बुखारको जाना तो वह व्यवहारसे जाना और खुदका जो बुखार जाना वह निश्चयसे जाना। निश्चयसे तो आत्मामें जो परिणमन होता है उस परिणमनको जानता है यह।

इसी प्रकार क्षेत्रमें निश्चयसे यह आत्मा लोकालोकप्रमाण असंख्यात प्रदेश है। पर व्यवहारसे शरीरका उपसंहार होता, विस्तार होता, मायने शरीर बढता है, घटता है तो ऐसे संकोच विस्तारके वशसे यह देह प्रमाण ही रहता है। अभी जैसे बचपनमें बच्चा छोटा है तो वह एक ही हाथका बड़ा बच्चा है, अभी उसका आत्मा उतने देहमें है जितना कि उसका शरीर है और जब जवान हो गया तो तीन साढे तीन हाथका बड़ा आदमी हो गया, तो आत्मा अब उतनेमे फैल गया। इसी तरह जो अभी चींटीके शरीरमें आत्मा है वह अभी चींटीके शरीरके बराबर है और मरकर वही हाथी बन जाय तो हाथीके शरीर बराबर हो जाय।

जैसे आग है। आग स्वयं अपने आप कैसी होती है, गोल कि चौकोर, बतलावो ? हम कोयला या लकडीकी आगको नहीं पूछ रहे हैं, हम तो आगको पूछ रहे हैं कि वह कैसी होती है ? तो तुम उस आगका कुछ आकार भी बता सकते हो ? नहीं बता सकते। पर आगका आधारभूत जो ईंधन है वह अगर गोल कोयला है तो आगका आकार गोल है और अगर कोई लम्बी लकड़ी है तो आग लम्बी है। तो जैसे ईंधनके आधार पर आगका विस्तार है इसी तरह देहके आधार पर इस जीवका विस्तार है। जीवका अपने आप कैसा आकार है ? बतलावो। जीव लम्बा है, या चौड़ा है या गोल है ? किसी जीवका कुछ आकार भी है क्या ? कुछ नहीं। तो जैसा देह हो उस देहके ही आकार वाला जीव हुआ।

अब प्रश्न करो कि सिद्ध जो हो गए, उनके शरीर तो रहा नहीं फिर भी उनका आकार बना हुआ है सो कैसे ? उत्तर—उनका वह जो आकार रह गया है उसका कारण पूर्व शरीर है। पूर्व शरीरमें जितने प्रमाणमें उनका आत्मा था शरीरके वियोग होनेके बाद अब वह आत्मा न कम हो सकता है और न बढ़ सकता है क्योंकि आत्माके कम और बड़ा होनेमें निमित्त तो कर्मोंका उदय और देहका आश्रय है। सो अब न नवी देहका

आश्रय मिला और न कर्म है, फिर यह बतलावो कि वह सिद्ध प्रभु जिस देहसे मुक्त हुए हैं उस देहसे छोटा हो जायेगा कि बड़ा हो जायेगा? न छोटा हो सकता और न बड़ा हो सकता।

फिर एक प्रश्न और करो कि जैसे दीपक एक मटकामें रखा हुआ है तो दीपक मटका बराबर उजेला करता है। वह यदि मटका से बाहर निकल जाय तो उसका प्रमाण सारे कमरेमें हो जाता है। इसी तरह जब तक यह जीव देहमें रह रहा है तब तक देह प्रमाण है, मगर देहसे मुक्त हो जाय तो उसे सब जगह फैल जाना चाहिए। प्रथम उत्तर तो यह है कि दीपक तो लौ प्रमाण है, उसका निमित्त पाकर ये स्कन्ध प्रकाशमान हो गये। द्वितीय उत्तर यह है कि दीपकका स्वरूप तो स्वयं अपने आपके कारण फैला हुआ पहिलेसे था। उस मटके ने उसको रोक रखा था तो अब मटका की रुकावट मिट जानेसे जैसा वह पहिले स्वभावमें था वैसे आ गया, फैल गया। वहां तो बात बन जायेगी किन्तु यह आत्मा पहिलेसे तो फैला हुआ न था। यह तो अनादिकालसे देहके आश्रयमें रह रहा है। सो जैसा देह मिला, जितने प्रमाणका मिला उतने प्रमाणमें फैल गया। तो अब देहके वियोग होने पर भी चूँकि पहिलेसे फैला न था, न फैलनेका स्वभाव था, इस कारण जिस देह से मुक्त हुआ है उस देहप्रमाण रह गया है।

तो भगवान निश्चयसे अर्थात् आत्मप्रदेशकी अपेक्षासे तो वह अपने स्वरूपप्रमाण है या जब अरहंत भगवान हैं तो उनका देह भी लगा हुआ है तो वह देहप्रमाण है और जब सिद्ध भगवान हुए तो वे जिस देहसे मुक्त हो गए हैं उसके बराबर रह गए। पर ज्ञानकी अपेक्षा देखा जाय तो भगवान लोकालोक व्यापक हैं। उनका ज्ञान अलोकाकाशमें भी चला गया। जानते हैं ना सब! जानते हैं अलोकाकाश को भी। जितना लोकाकाश है ३४३ घनराजू प्रमाण, इतना ही तो नहीं जानता है। वह तो समस्त द्रव्यों को जानता है। तो आकाशमें जितने द्रव्य हैं उनने आकाशको जानते हैं। आकाश एक अखण्ड द्रव्य है जो लोक और अलोकमें सर्वत्र व्यापक है तो पूरे लोकालोकको जान लिया।

उपयोग लोकालोकमें गया, इसका अर्थ यह नहीं है कि उन्होंने चित्त लगाया और उपयोगको भेजा, किन्तु ऐसा कहा जाता है। उनके उपयोग में जितना जो कुछ सत् है वह समस्त सत् प्रतिभासमें आ गया, इसीको ज्ञान शब्दसे भी कहते हैं और प्रतिभास शब्दसे भी कहते हैं।

हमने भी जितने पदार्थोंको जाना, उपयोग देकर जाना हो या बिना उपयोग दिए भी कभी जाना हो तो हमारा ज्ञान उतनेमें गया हुआ

बोला जायगा। ज्ञान जाता नहीं है, ज्ञानके हाथ पैर नहीं हैं, गति नही है बस अपने आपकी भूमिमे ज्ञानका जितना ज्ञेयाकर परिणमन हुआ उसको 'जाना' बोला करते हैं।

तो यों परमात्मा निश्चयसे लोकालोक प्रमाण असंख्यात प्रदेश वाला है, फिर भी व्यवहारनयसे शरीरकृत उपसंहार और विस्तार होता है देहमात्रका। अच्छा बताओ यह आत्मा स्वयके आकारसे कितना बड़ा है? तो जितना तक कभी बड़ा हो सकता हो उतना बड़ा बतावोगे। जैसे पूछें कि आग कितनी बड़ी होती है? तो एक भी न बता पायेंगे पर बड़ासे बड़ा जो ईंधन होता होगा-जितना बड़ा होता हो मान लो कि १०-२० फिट लम्बा कोई ठूठ पड़ा देखा हो तो कहोगे कि २० फिट बड़ा है, पर निराधार-रूपसे किसीने देखा है कि आग २० फिटकी होती? नहीं देखा। यह जीव जब केवलीसमुद्घात करता है तेरहवे गुणस्थानमें तो इस जीवका प्रदेश केवलीसमुद्घातमें जबकि लोकपूरण होता है तो समस्त लोकाकाश में व्याप जाता है। तो लोकाकाश प्रमाण हुआ, पर व्यवहारसे तो जैसा देह मिला, उस देहप्रमाण ही यह आत्मा कहलाता है।

यहां चर्चा यह चल रही है कि जो योगी अम्बरमें, आकाशमे अपने मनको धरता है उसका मोह टूट जाता है। तो आकाशका मतलब यहा आकाश नहीं है किन्तु जैसे अकाशमे अन्तराल है, शून्य है, इसी प्रकार आत्मा समस्त बाह्य पदार्थोंसे सूना है, समस्त बाह्य भावोंसे सूना है। अपने ही ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र है, ऐसे ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र अपने आत्मा मे जो मनको धरता है उसका मोह शीघ्र टूट जाता है। इसी बातको अब और एक दोहेसे बतलाते हैं।

देहि वसंतु वि णवि मुणिउ अप्पा देउ अणंतु।
अंबरि समरसि मणुधरिवि सामिय णट्ठु णिभंतु ॥१६५॥

हे स्वामी? देहमें बसता हुआ भी यह आत्मदेव अनन्त गुणोका आधार है। मैंने अज्ञानतासे नहीं जाना। अपने मनको समतापरिणामरूप आकाशमें धरकर मैंने नहीं जाना है, इसलिए मैं अभी तक नष्ट हो रहा हू, बरबाद हो रहा हूं इसमें कोई सन्देह नहीं। यह दोहा इस प्रकारके आशय को लिए हुए है कि प्रश्नकर्ताने पहिले प्रश्न किया था कि यह मोह कैसे टूटता है, उसके उत्तरमें २, ३ दोहे में आचार्यने समाधान किया है कि मोह यों टूटता है कि रागादिक विकार रहित वीतराग चिदानन्दस्वरूप अम्बर में मनको लगानेसे मोह टूटता है। तो इस उत्तरको सुनकर प्रश्नकर्ता समाधान रूपमें आया और वह उत्तरको स्वीकार करता हुआ अंतिम

विज्ञापन कर रहा है अथवा पश्चात्ताप प्रकट कर रहा है कि हे स्वामी ! सच है। इस देहमें वसते हुए इस मुझ आत्माने अपने इस अनन्त आनन्दको न जाना, समतापरिणामरूप समाधिभावको मनमें लेकर न जाना, इसीलिए ठीक है नाथ ! मैं अभी तक वरबाद होता रहा।

यहां प्रश्नकर्ता प्रभाकरभट्ट गुरु योगीन्दुदेवसे निवेदन कर रहे हैं कि यह देह जो जीवका बंधन बना रहा है वह व्यवहारनयसे है। निश्चय से आत्मा कहा रहता है, और व्यवहारसे आत्मा कहा रहता है ? तो व्यवहारसे आत्मा देहमें रहता है और निश्चयसे आत्मा अपनेमें रहता है। आकाशसे बाहर तो आत्मा कहीं चला नहीं गया, रहा आकाशमें ही, फिर भी आत्माका जो निजी द्रव्य है उस निजी द्रव्यसे उसके क्षेत्रको देखा जाय तो वह आत्मा अपने आपके भीतर में है।

जैसे पूछा जाय कि यह पुस्तक कहा है ? तो व्यवहारसे तो कह दो कि यह पुस्तक कमरेमें है। जरा और बढ़कर कह दो कि आकाशमें है, पर निश्चयसे पूछा जाय कि यह पुस्तक किसमें है ? तो कहा जायगा कि यह पुस्तक पुस्तकके निजी प्रदेशमें है। आकाशसे बाहर यद्यपि यह पुस्तक कहीं गयी नहीं है, आकाशमें ही है, पर आकाशके प्रदेश, आकाशका क्षेत्र जुदा है और पुस्तकके प्रदेशका क्षेत्र जुदा है, इसलिए निश्चयसे पुस्तक-पुस्तकमे है, आकाशमें नहीं है, कमरेमें नहीं है। इसी दृष्टिसे आत्माको पूछा जाय कि कहा है आत्मा ? तो व्यवहारका उत्तर है कि देहमें है और कहा है--देख लो। शरीरमें बस रहा है। शरीर गया तो आत्मा गया, शरीर बैठा है तो आत्मा बैठा है, देखो बधा है ना शरीरसे आत्मा। जहां शरीर जायगा वहा ही आपका आत्मा है। तो व्यवहारसे यह आत्मा शरीरसे बधा है।

व्यवहार कहते हैं उसे जहा एकपर दृष्टि न हो, दो पर हो या अनेक पर हो। तो जब हम अद्वैतको छोड़ते हैं और व्यवहारकी दृष्टि बनाते हैं तो हमें तो दो चीजे दिख रही हैं, दोका सम्बन्ध दिख रहा है, तो व्यवहारसे यह आत्मा देहमें बसता है। जैसे भैंसको खूटेसे बाध दिया, रस्सीसे बाध दिया तो पूछ कि बताओ भैंसका गला कहा है ? तो व्यवहारसे रस्सीके बीचमें है, और निश्चयसे गला कहा है ? निश्चयसे भैंसका गला उसीके गलेमें है। तो निश्चय तो दिखाता है एक वस्तुको और व्यवहार दिखाता है अनेक वस्तुवोंको। तो इस प्रकार आत्मा निश्चयसे कहा बस रहा है ? तो एक आत्माभरको देखो, दूसरेका तो लक्ष्य ही नहीं करना है। तो उस एक आत्माको देखनेसे यह निर्णय हुआ कि आत्मा, आत्मामें बस रहा है।

अब जरा आत्मासे बाहरकी भी परिस्थितियां देखो तो व्यवहार दृष्टि आयी। व्यवहारसे आत्मा कहां रहता है? वह देहमें रहता है।

यद्यपि व्यवहारसे आत्मा देहमें रहता है। रहो-देहमें, रहकर भी इस मुझ आत्माने अपना शुद्ध आत्माको न जाना। शुद्ध आत्माका अर्थ है खालिस आत्मा। केवल मैं सत् जो हू उस स्वरूपसे मैंने अपनेको न जाना। जानता रहा तो यों ही जानता रहा—यह मैं हू, यह मैं आ गया, यह मैं खाता हू, यह मैं बैठा हू, इस तरहसे बाह्य जो देह है उसको ही जाना। इस देहमें बसकर भी मैंने अपने आपको न जाना। निश्चयसे यह मैं कैसा हू? शुद्ध हू। अपने आपके स्वरूपसे कैसा हू? इस प्रकारसे मैंने न जाना। जब मैंने अपने निज शुद्ध आत्माको न जाना तो नाना योनियोंमें, गतियोंमें मैं भटकता रहा। धर्मपालनका आधार है अपने आपको केवल देखना, न्यारा देखना, सबसे जुदा देखना।

कोई शरीरको ही आत्मा माने, शरीरसे जुदा अपने आत्माको न देख सके तो उसने धर्मपालन तो नहीं किया है, और भीतर चलो। रागादिक भाव आत्मामें उठते हैं जो कि औपाधिक भाव है, सर्व रागादिक भावोंसे जुदा मेरा स्वरूप है, उस चैतन्यभावको मैंने न जाना तो धर्मपालन तो नहीं किया। व्यवहारमें भी जितना-जितना आपको जुदा दीखेगा उतनी-उतनी ही आपको शांति प्राप्त होगी और जितना अपनी जुदायगी से अलग होकर बाहरमें दीखेगा उतनी ही अशांति होगी।

भैया! अपने शुद्ध आत्माको देखो, इसका अर्थ यह नहीं करना है कि मैं रागद्वेषरहित भगवानकी तरह शुद्ध हू और उस शुद्धको देखता हू क्योंकि ऐसे शुद्ध हैं ही नहीं। अपनेको शुद्ध देखेंगे कैसे? इस पर्याय शुद्ध की यहां बात नहीं कह रहे हैं किन्तु तू है ना, एक द्रव्य है ना, अकेला है ना, तो तुम अपने आप अकेले अपने स्वरूपमें जैसा हो उतना मात्र समझ में आ जाय, यही है शुद्ध आत्माका देखना। जैसे खिचड़ी बनी तो खिचड़ी में न दालका शुद्ध स्वाद रहा, न चावलका शुद्ध स्वाद रहा। दाल अलग बनाया, चावल अलग बनाया तो दोनोंका अलग-अलग ठीक ठीक स्वाद है। खिचड़ीमें तो चावल और दाल दोनोंका स्वाद बिगड़ गया। दाल भातके स्वादमें और खिचड़ी के स्वादमें प्रकृत्या अन्तर है, खिचड़ीमें दाल और चावल दोनोंका शुद्ध स्वाद नहीं है। न रहो शुद्ध, फिर भी कोई अपनी ज्ञानदृष्टिसे समझना चाहे तो उसमें समझ तो सकता है कि चावल यह है और दाल यह है, और स्वाद दोनोंका लिया हो तो भी ज्ञानसे दोनोंका न्यारा-न्यारा स्वाद जान सकते हैं।

इसी प्रकार यद्यपि हम यहां शुद्ध नहीं हैं, अशुद्ध हैं, मिले हुए हैं, देह न्यारा है, आत्मा न्यारा है ऐसी स्थितिमें आत्मा स्थित नहीं है। न खालिस देह है और न खालिस जीव है। देहमें जीव बंध हुआ है, इतने पर भी हम अपने ज्ञानसे ऐसा तो जान सकते हैं कि जब जीव हैं एक सत् तो यह अपने स्वरूपसे कुछ और है, जो केवल अपना स्वरूपमात्र रखता है ऐसे अपने स्वरूपमात्रकी दृष्टिमें देखेंगे तो इस आत्माको शुद्ध आत्मा कहते हैं। तो देहमें बस कर भी मैंने खालिस केवल अपने आत्मादेवको न देख पाया, इसलिए हे स्वामी ! मैं अब तक भ्रमण कर रहा हू।

इस आत्माका नाम देव है। देव क्या है ? जो आराधनाके योग्य हो, जो केवल ज्ञानादिक अनन्तगुणोंका आधार हो, ऐसा देव परम आराध्य जो शुद्ध आत्मा है उस आत्माको मैंने न जाना। जो आत्मा अनन्त है अर्थात् अनन्त पदार्थोंके जाननेकी इसमें शक्ति है इसलिए यह अनन्त कहलाया। और यह ज्ञानानन्दमय आत्मतत्त्व तीन कालमें भी कभी नष्ट न होगा इसलिए यह अनन्त है। जैसे विज्ञान का नियम है कि जो चीज है वह किसी ही रूप बदल जाय पर नष्ट न होगी। हवाका पानी हो जाय, पानीका हवा हो जाय, पर मूलसे कभी नष्ट नहीं हो सकता। तो ऐसा यह अविनाशी आत्मा है, इस आत्माको मैंने न जाना इसलिए प्रभो ! मैं आज तक रुलता रहा।

प्रभाकरभट्ट निवेदन कर रहे हैं कि देहमें रहते हुए भी इस आत्मतत्त्वको मैंने नहीं पहिचाना। समतारससे भरपूर जो अपना निर्विकल्प समाधिभाव है उसमें मन नहीं धरा और अपने आत्माको नहीं पहिचाना इसी कारण मैं नष्ट हुआ, इसमें कोई सदेह नहीं है। यहां अपना पश्चाताप प्रकट करते हुए प्रभाकरभट्ट बोल रहे हैं—इतने काल मैंने परमात्माके उपदेशको न पाकर यों ही व्यर्थ खोया। इस तरह परमात्माके जाननेके उपायको बताते हुए अब यह बतलाते हैं कि परम शांति परिणामसे सहित यदि समस्त सगका परित्याग किया जाय तो संसारका उच्छेद होता है।

सयलवि सग ण मिल्लिया णवि किउ उवसमभाउ।
सिवपयमग्गुवि मुणिउ णवि जहिं जोइयहिं अणुराउ॥ १६६॥
घोरण चिण्णउ तवचरणु ज णियबोहहँ सारु।
पुण्णुवि पाउवि दड्ढु णवि किमु छिज्जइ ससारु॥ १६७॥

समस्त परिग्रह भी नहीं छोडे, उपशमभाव भी नहीं किया, और शिव मार्ग भी नहीं समझा जिसमें कि योगीजनोंका बड़ा प्रेम रहता है, घोर तपस्या भी नहीं किया, जो कि आत्मज्ञानसे शोभायमान् है, पुण्य पाप

इनको भी बंद नहीं किया, फिर बतलावो संसारकैसे छूट सकता है ? परिग्रह भी नहीं छोड़ा, शांति परिणाम भी नहीं किया, और मोक्षका क्या स्वरूप है, उसके पानेका क्या उपाय है ? यह भी नहीं जाना, कभी कर्मोंको भस्म नहीं किया, फिर बतलावो कि कैसे यह संसार छूट सकता है ?

परिग्रह आभ्यन्तरतो १४ तरहके हैं, मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ और हास्य आदिक ९ नो कषाय। इस तरह १४ प्रकारके भीतर परिणाम वाले परिग्रह हैं और बाह्य परिग्रह १० प्रकारके हैं-मकान, खेत, धन धान्य, नौकर, कपड़े, रुपया, पैसा, सोना, चांदी, वस्त्र बर्तन आदि। ये २४ प्रकारके हैं, इनका त्याग नहीं किया, समतापरिणाम नहीं किया, जीवनमें सुख माना, मरणमें दुःख माना, कोई लाभ मिल गया तो हर्ष माना, कोई हानि हुई तो दुःख माना। तो सारे तो ऐब करें और चाहें कि संसार कट जाय तो कैसे कटे ?

भैया ! शिव जो परमकल्याणरूप है, अविनाशी है, निर्वाण है, ऐसे निज पदको जाना ही नहीं। पाये किसे ? कैसा है यह मोक्षका मार्ग ? स्वाधीन है। कहीं बाहर कुछ यत्न नहीं करना है, किन्तु अपने आपका जो स्वरूप है उसका श्रद्धान करना, उसका ज्ञान करना, उसकी ओर ही लगना, ऐसा खुद अपने आपमें पुरुषार्थ करना है, ऐसा यह स्वाधीन मार्ग है जहां मोक्षमार्गमें लगने वाले योगी पुरुष बड़ी प्रीति करते हैं। योगियोंकी प्रीतिका साधन मात्र जो आत्मतत्त्व है उसका अवलम्बनरूप वह मोक्षमार्ग भी न जाना और न परिषहका विजय पाया, न उपसर्ग सह सके, न तपश्चर्या की, फिर उसके निर्वाणकी कल्पना भी क्या की जावे ?

तपश्चर्या अपने ज्ञानके कारण सारभूत है। वास्तविक तपस्या तो शुद्ध ज्ञान करके अपने आपमें लीन होना है। सो जहां ये सब काम चलते हों और बाहरी तपस्याएँ भी होती हों ऐसा तपश्चरण भी नहीं किया और न पुण्य पाप की बेड़ी काटी। पुण्य पाप की बेड़ीकी उपमा दी है जैसे कि चाहे लोहेकी बेड़ी हो, चाहे सोनेकी बेड़ी हो, दोनों ही तरहकी बेड़ी बन्धन करनेमें एक समान हैं। इसी प्रकार पुण्यका उदय हो तो उसमें भी परपदार्थों की ओर दृष्टि हो और पापका उदय हो तो उसमें भी परकी ओर दृष्टि हो, तो जहां परकी ओर दृष्टि है वहां ही बन्धन है। सो पुण्य पापके बन्धनको बराबर बनाये रह आये हैं। फिर बतलावो कि संसार कैसे छिदे ? न ध्यान किया, न शुद्ध आत्मतत्त्वको अनुभव किया, फिर संसार कैसे कट सकता है ?

भैया ! असली बात तो यह है कि इस जीवने संसारमें अनन्त

भव पाये, अब यह मनुष्य भव इसे मानों मुफ्त ही मिला है। तो इससे राग हो-इस तरहसे तो कुछ लाभ न मिल सकेगा। मनुष्य भव पानेका लाभ यह है कि अन्तरमें किसी पदार्थकी इच्छा न रहे। स्वयं जैसे हैं उसीमें रमें, यही संसारके घटनेका उपाय है। यदि हम ऐसा न कर सके तो फिर संसार कैसे कट सकता है? तो जानकार कर्तव्य यह है कि अपना जो शुद्ध आत्मद्रव्य है, केवल, खालिस, स्वय अपने आप जिस स्वरूपमें है उस स्वरूप की अपनेको भावना करनी चाहिए। अब हम यह बतला कर जो कि उत्कृष्ट धर्म है उसके कथनके बाद दान करना, पूजा करना, पचपरमेष्ठी की वन्दना करना आदिक रूप जो परम्परासे मुक्तिका कारण है, ऐसे श्रावक धर्मका कथन करते हैं।

दाणु ण दिण्णउ मुणिवरहँ णवि पुज्जिउ जिणणाहु।
पंच ण वंदिय परमगुरू किमु होसइ सिवलाहु॥ १६८॥

कहते हैं कि इस जीवने न दान दिया मुनिश्वरोंको और न जिनेन्द्र देवको पूजा और न पचपरमगुरुओंकी वन्दना की तो शिवका लाभ कैसे हो सकता है? कल्याणकी प्राप्ति कैसे हो सकती है? श्रावकधर्मका मुख्य कर्तव्य दान करना, पूजा करना, वन्दना करना आदि है। कोई इनसे रहित है, दान, पूजा, वन्दनासे दूर रहे तो और क्या करेगा या धन जोड़ेगा या विषयोंमें रमेगा। उसे कल्याणका मार्ग तो नहीं मिल सकता है। कल्याण करने वाले जो पुरुष हैं उनकी संगति करें तो कल्याणका मार्ग मिल सकता है। उनकी संगतिसे दूर हैं तो उससे शिवलाभ नहीं हो सकता है।

दान चार प्रकारके हैं - आहारदान, अभयदान, औषधिदान और शास्त्रदान। जो मोक्षमार्गी जीव हैं उन्हें विधिपूर्वक भोजन कराना, सो आहारदान है। मात्र खुद तो सभी खाते रहते हैं पर ऐसे लोग धन्य हैं जो मुनिजनोंको खिला करके खानेका भाव व यत्न रखते हों। वही आहार दान है। अभयदानमें उन मुनिजनोंकी ऐसा सेवा हो, ऐसी विनय वृत्ति हो, ऐसा दूसरोंके संकट मेटनेका परिणाम बने कि जिससे उन मुनिजनोंका व धर्मी जनोंका भय दूर हो, इसे कहते हैं अभयदान। औषधिदानमें उन मुनिजनोंको अनुकूल औषधि देना, यही औषधिदान है और शास्त्रदानमें दूसरोंको पढ़ाना, शास्त्र देना, ज्ञानप्रभावनाका कार्य करना, ये सब शास्त्रदान हैं। तो ये चार दान भक्तिपूर्वक श्रावकों को देने के हैं, जो कि निश्चय और व्यवहाररत्नत्रयके साधक हैं।

तो जिन्होंने उन्हें पूजा नहीं, किन्हें? जिनेन्द्रदेवको, जिनके बड़े-बड़े देवेन्द्र, धरणेन्द्र, नरेन्द्र पूजते हैं, केवल ज्ञानादि अनन्त गुणों

जो परिपूर्ण हैं, जो उच्च पद पर विराजमान् हैं, ऐसे जिनेन्द्रदेवको हमने न पूजा, और न पच परमगुरु अरहन्त, सिद्ध आचार्य, उपाध्याय और साधु इनकी कभी बन्दना की, तो बतलावो कि कल्याणका उपाय कहासे प्राप्त हो ? परमगुरुवों में दो तो देव हैं और तीन गुरु हैं। देव और गुरु सबको परमगुरु बोलते हैं। क्योंकि ये सब परमपदमे स्थित हैं। भगवान अरहत और सिद्ध तीन लोक के अधिपतियोंसे वदनीय हैं।

प्रश्न-यहा कहा गया है कि तीन लोकके जीव जिनकी बन्दना करते हैं। तीन लोकके सारे जीव कैसे बन्दना कर सकते हैं ? सारे जीव तो वहां पहुचते ही नहीं, पर उसका अर्थ यह है कि ऊर्ध्वलोकके जो इन्द्र हैं उन्होंने बन्दना कर लिया तो ऊर्ध्वलोकके सभी जीव उसमें आ गए। मध्यलोकमें मनुष्यके स्वामी जो चक्रवर्ती हैं और तिर्यन्चके स्वामी जो सिंह हैं, जब वे नमस्कार करने आ गए तो सबका नमस्कार समझना चाहिए। तो जो तीन लोकके अधीशोंके द्वारा वंदनीय हैं वे हैं अरहंत सिद्ध और तीन लोकके ईश इन्द्रोंके द्वारा, योगियोके द्वारा वंदनीय मोक्षपदकी जो आराधनामें लगे ऐसे आचार्य, उपाध्याय और साधु हैं इनकी यथायोग्य कभी बन्दना नहीं किया तो मोक्षसुखका लाभ कैसे हो सकता है ?

भैया ! मोक्षका सुख चाहिए तो जो मोक्षके सुखमें लगे हैं, जिन्होंने मोक्ष सुख पा लिया है ऐसे देव और गुरुवों के प्रति अपना विशेष झुकाव हो, उनकी सगति हो तो मोक्षसुख प्राप्त हो सकता है। पर मोक्षके आराधकोंकी न सगति की, न उनका बन्दन, पूजन किया, न उनकी सेवा शुश्रूषा की, उनसे अत्यन्त दूर रहे तो उनसे दूर रहने पर मोही जीवोंमे, परिकरोंमें रहकर तो यह जीव खोटे ही कर्म करेगा—ऐसा जानकर यहां यह शिक्षा लेना चाहिए कि दान पूजा वदन आदिक जो श्रावकोंके कर्तव्य हैं उनसे न चूकना चाहिए। ये सब कर्तव्य उपासकोंके ध्यान सम्बन्धी शास्त्रोंमें कहे गये हैं, सो इन कर्तव्योंको योग्य विधिसे करते रहना चाहिए। अब जैसे शरीरकी रखवालीके लिए आहारकी आवश्यकता है, भोजन न करें तो शरीर शिथिल हो जाय, इसी तरह आत्माकी शांतिके लिए ज्ञान ध्यानकी आवश्यकता है, मगर ज्ञानध्यानकी बातमें नहीं लगे, मोक्षमार्गियोंकी सगति सेवामें नहीं लगे तो मुझे आत्मशांतिकी बात नहीं प्राप्त हो सकती है।

अब विधि जानकर इन्हीं परमगुरुवोंके वंदनमे, पूजनसे, नमस्कार में संगतिमें, सेवामें, ज्ञानध्यानमें जो पुरुष लगता है उसे शांतिका मार्ग मिलता है। अब ये जो षट् आवश्यक कार्य श्रावकके माने गए हैं उनमें

अध्यात्मसाधना भरी है। जैसे देवपूजा करते हैं तो देवपूजा करते हुएमें यह ध्यान रहता है कि ये प्रभु अध्यात्मकी मूर्ति हैं, इनका जैसा सहज स्वरूप है तै ा पूर्ण विकास हो गया है। तो मेरा भी यह कर्तव्य है कि मैं भी इस शुद्ध चैतन्यस्वरूप मात्र रहूं। अपनेको करने योग्य काम जगत्में केवल एक है—अपनी शुद्ध भावना रखना। शुद्ध परिणाम होनेसे तत्काल भी शांति मिलती है और आगामी कालके लिए भी शांतिका उपाय रहता है और परिणाम निर्मल न हो तो कैसी भी स्थिति आए, धन भी पास हो, बहुत सम्पत्ति भी जुडी है तो भी शांति नहीं रहती है और परिणाम निर्मल हो तो कैसी भी दीनताकी स्थिति आए तो भी शांति मिलती है।

भैया! शांतिका सम्बन्ध है वीतरागताके साथ, न कि बाह्य वस्तुके साथ। परिणामोंमें वीतरागता हो तो शांति मिले और नहीं है वीतरागता तो बाह्य वस्तुवोंसे मुझे शांति न मिल जायेगी। जो पुरुष राग जितना कम करता है, द्वेष कम करता है वह उतना ही सुखी है और जिसके रागद्वेष बिलकुल नहीं है, वह पूर्ण सुखी है। यह सभाल बनाना भी बहुत बड़ा काम है कि अपनी गलती ध्यानमें रह जाय कि मैं रागद्वेष परिणाम करता हूं इसी लिए दुःख होता है।

इस मनुष्यभवको पाकर मेरे करने योग्य काम केवल एक ही है—मोह रागद्वेष इनसे दूर हों, दूसरा हमारा कोई काम नहीं है। क्या होता है बाह्यपदार्थोंसे? यदि बाह्यपदार्थोंसे शांति मिलती हो तो बतलावो। जो बड़े बडे करोड़पति हैं वे भी दुःखी हैं। चीजें तो दो ही चाहिये हैं, वहां भूख मिटना चाहिए और शांति मिलनी चाहिए। सो बडे करोड़पति होकर भी लाभ कौनसा मिलता है? भूख जैसे दूसरोंकी मिटती है वैसे ही उन करोड़पतियोंकी मिटती है। बल्कि शांति उन्हें ज्यादा मिलती है जो कम परिग्रह वाले हैं। अब रही इज्जतकी बात। किनमें अपनी इज्जत चाहते हो? जिनमें आप अपनी इज्जत चाहते हैं वे स्वयं मर मिटने वाले हैं। वे सदा इज्जत करते रहेंगे क्या? तो इज्जतकी कल्पना भी झूठी है। मगर सारा संसार मोहमें लग रहा है, सारा संसार अपनी पोजीशन बनानेमें लग रहा है।

भैया! यहां यदि कोई धर्मकी बात करे तो सारे संसारकी निगाहमें तो वह पागल है। मगर हिम्मत है ज्ञानी पुरुषकी कि सारा संसार भी कुछ कहे फिर भी अपने हितकी धुनमें रहता है और जानता रहता है कि दूसरे लोग मेरी कुछ मदद न कर देंगे। सभी हास करनेको हैं। अभी आप चले जा रहे हो, थोड़ा पैर फिसल जाय, गिर जावो तो आपका कैसा ही हित्

हो, उसे हँसी ही आ जायेगी, चाहे वह बादमें दौड़कर उठाये, सेवा करे, पर हँसी आ जायेगी और जो आपको हितू नहीं है वह हँसनेका आनन्द देर तक लेता रहता है। तो दुनियाके लोग तो हम बिगड़ते हों, गिरते हों तो हँसी करने वाले हैं, पर हमारा सुधार करने वाले नहीं हैं। मेरा सुधार तो मेरा निर्मल परिणाम ही कर सकता है, ऐसा ज्ञानी जीवको दृढ़ विश्वास है।

जब तक दूसरोंका स्वार्थ सधता है तब तक तो बहुत-बहुत लोग मानते हैं और दूसरोंका स्वार्थ न सधे तब कोई मानने वाला नहीं होता है। यहीं देख लो। कोई आदमी आफिसर है या मिनिस्टर वगैरह है तब कितनी मान्यता है और जब रिटायर हो जाय, नौकरी न रहे तो फिर उसे कौन पूछने आता है? मनुष्य जब धन कमाता है, बड़ी आय करता है तब बहुतसे पूछने आते हैं और कभी उदय पापका आ जाय, धर्म ही खत्म हो जाय तो मनुष्य तो वही है। अब मित्र कहा गए? कोई पूछने वाला नहीं है। पीठ पीछे सभी हँसी करने वाले हैं। तो जो ऐसे मलिन हैं, मोही हैं, अज्ञानी हैं, खुदका जिसे पता नहीं है ऐसे पुरुषोंमें हम अपना क्या पोजीशन रखें, क्या कहलवाना है इन लोगोंसे। कह दिया तो क्या मिल गया। अव्वल तो जसा चाहो वैसा सब कह ही नहीं सकते। सबका भी अपना-अपना मन है। किसी पर कोई जबरदस्ती नहीं है। सब अपने अपने मनके अनुसार कार्य करेंगे और कदाचित् मान लो लाइन लगाकर एक स्वरमें खूब धन्यवाद दे दे तो उससे आपको क्या मिल गया?

भैया! जिस मनुष्यमें वैराग्य हो, त्यागमार्ग हो वह पूज्य है। शांति और संतोष तो इस त्यागमार्गसे ही प्राप्त हो सकता है, पर हो तो त्याग अतरंगमें। अतरंगका त्याग इस ज्ञानमें है कि यह ज्ञान प्रौढ़ बना रहे कि प्रत्येक द्रव्य भिन्न-भिन्न है, किसी द्रव्यसे किसी अन्य द्रव्यका कुछ सम्बन्ध नहीं है। केवल अपने आपमें अपना परिणमन कर रहे हैं। फिर मेरा क्या है, दूसरेके परिणमनमें मेरा हित क्या? ऐसा ज्ञान जिसका जागरूक रहता है वह ही पुरुष आनन्द पा सकता है। हम कितना ही अपने मुँहसे मिठ्ठामिट्ठू बने रहें, हम बड़े चतुर हैं, बड़ी बुद्धिमानीका काम करते हैं, पर जब तक विकल्प है, जब तक इधर उधरका ख्याल है, जब तक परवस्तुकी सभालका यत्न है तब तक हम चतुर नहीं हैं, ज्ञानी नहीं हैं। हमारी गल्ती पर न हँसने वाले और उस गल्तीका समर्थन करने वाले यहां सभी मिलेंगे पर हमारी गल्ती पर हँसने वाले वहीं मिलेंगे जिनको हँसनेका कोई प्रयोजन नहीं है अर्थात् ज्ञानी पुरुष।

भैया! मोही, मोहीका सत्कार करते ही हैं। यहा पर ऐसे ही लोग मिलेंगे कि उमने उसकी प्रशसा कर दी, उसने उसकी प्रशंसा कर दी। यद्यपि प्रशंसाके लायक वे एक भी नहीं हैं पर परस्परमें एक दूसरेकी प्रशसा कर देते हैं। उनमें क्षोभ भरे हैं, विकल्प भरे हैं, विकार भरे हैं। इच्छा बहुत सी बनाए हैं। ऐसे लोगोंसे हम क्या अपनी प्रशसा चाहें, ऐसी समझ जो बनाए रहता है, समझो वह ठीक मार्गपर है। तो ये श्रावकोंके कर्तव्य बताए हैं। इन छहों कर्तव्योंमे से श्रावकोंको भी एक भी कर्तव्य न छोडना चाहिए। कुछ न कुछ समय इन सभी कर्तव्योंके करनेमें देना चाहिए। देवपूजा, भगवानकी भक्ति, भगवान्का ख्याल, इनको यदि छोड़ दिया तो संतोष कहा मिलेगा? गुरूपास्ति, गुरुवोंके सत्संगमें आना, बैठना, इनको छोड़ दिया तो ज्ञानकी बातें कहासे प्राप्त होंगी? यदि गुरु-जन नहीं मिलते हैं तो अपने गृहस्थोंमें भी ऐसे बहुतसे लोग होते हैं जो स्वभावसे विरक्त होते हैं, उनकी सत्संगति करो। मोहियोंका संग छोड़ो। यदि गुरुवोंकी उपासना करना छोड दिया अथवा सत्सगति छोड़ दिया तो फिर भला होनेका ठिकाना कहा मिलेगा?

स्वाध्याय जिसमें शातिकी, प्रवृत्तिकी और उत्साह भरी वाणी लिखी है उसे अगर छोड़ दें तो फिर कहां शाति पायेंगे। संयम अपनी प्रतीतिमें रच भी सयम न रखें, हिंसा, झूठ, चोरी आदि पाप ही किए जा रहे हों तो उससे शाति कहा मिलती है? जप, तप न करके इच्छाके वशमें आकर, इच्छा-इच्छामें ही बह गए तो फिर मुझे संतोष कहां मिलेगा? और दान जो कुछ कमाया वह सब अपने परिजनके लिए है, जिनमें मोह है उनके ही लिए है तो ऐसी कमायी किस काम की है? उससे ममता बढ़ेगी और मरते समय बड़ा संकल्प विकल्प होगा। जो पहिले से ही धन वैभवसे जुदा समझता है, जितना परिवारजनोंपर खर्च करता उतना ही अन्य लोगों पर खर्च करता, तो चूँकि वैभवसे उसने आसक्ति नहीं रखी इसलिए मरण समयमें उसे संक्लेश नहीं होता है। यों श्रावकोंको ६ कर्तव्य प्रतिदिन पालन करनेके हैं। तो श्रावकको ये ६ कर्तव्य प्रतिदिन करना ही चाहिए। अब यह बताते हैं कि निश्चयसे चिंतारहित ध्यान ही मुक्तिका कारण है।

अद्धुम्मीलिय-लोयणिहिं जोउ कि झंपियएहिं।
एमुइ लब्भइ परम गइ णिच्चिंतिं ठियएहिं॥ १६६॥

कहते हैं कि आधे उघडे हुए नेत्रोंसे अथवा बन्द किए हुए नेत्रोंसे क्या ध्यानकी सिद्धि होती है? अर्थात् नहीं होती है। जो चिंतारहित पुरुष

हैं, अपने स्वरूपकी ओर लगे हैं उनको ही इस तरहके मोक्षपदकी प्राप्ति होती है। चिंता है और ध्यान लगावे, आंखें बन्द करे, आंखें खोले रहे तो क्या उससे सिद्धि हो जाती है ? नहीं होती। भीतरमें चिंता न हो, शल्य न हो और सीधा अपने आत्मस्वरूपपर दृष्टि दे तो उसने सिद्धि होती है। यदि आत्मदर्शन है, आत्माकी रुचि है, आत्माकी ओर ही यत्न है तो आंखे उघाडना या बन्द करना इत्यादि कुछ यत्न करने की जरूरत नहीं पड़ती, स्वयमेव सिद्धि हो जाती है। आखें उघाडने, बन्द करनेसे सिद्धि नहीं होती है। जितना सयोग है उतना ही क्लेशका कारण है, बन्धका कारण है, तो जब चिंता न हो, किसी वस्तुका आशय न हो तो किसी भावकी अपेक्षा नहीं रहती। जो होनेको होता है वह हो जाता है। इसे ही मोक्षगति या परमगति कहते हैं।

यह मोक्ष बडे-बड़े उत्कृष्ट केवल ज्ञान आदि गुणों करके सहित है इसीलिए इसका नाम परमगति है। इस परमगतिको कौन प्राप्त कर सकता है ? जो चिंतारहित पुरुष हो वह ही इस परमगतिको प्राप्त कर सकता है। चिंतारहित पुरुष ही निजशुद्ध आत्मामे स्थिर हो सकता है। अपने शुद्ध आत्मस्वरूपमें स्थित होना कब बन सकता है जब किन्हीं बाह्य पदार्थविषयक चिंता न हो। जैसा कि इसका अपने ही अस्तित्वके कारण स्वरूप है। ज्ञानमात्र, चित्प्रकाशमात्र। त्रैकालिक अखण्ड चैतन्यरूप, इस रूप ही अपनेको देखना है। यदि कोई इस रूपमें अपनेको देखे तो उसके बाहरी चिंता और मोह कहां झलकेगा और जब बाहरी चिंता और मोह परिणाम नहीं रहता है तब यह जीव उपयोगको अपने स्वरूपमें प्रवेश कराता है। मोक्षका कारण इस शुद्ध आत्मतत्त्वकी उन्मुखता है। तो यह निश्चित पुरुष ही कर सकता है। यों तो बच्चेसे भी कहो कि कि जाप दिखावो कैसे करोगे, तो वह पालथी मारकर आखे वंद करके हाथसे जपने लगता है। तो ऐसा बाह्य यत्न करनेसे कोई चीज मिलती है क्या ? उन सबके अन्तर्ज्ञानका प्रसाद है जिन-जिनके ध्यानकी सिद्धि होती है। उसे अब इस दोहेमें कहते हैं।

जोइय मिल्लिवि चित जइ तो तुट्टइ संसारु।
चितासत्तउ जिणवरुवि लहइ ण हसाचारु ॥१७०॥

हे योगी ! यदि तू चिंतावोंको छोडेगा तो इस ससारके परिभ्रमण से छूट जायेगा, क्योंकि चिंतावोंसे आशक्त हुए जो पुरुष हैं वे बडे जिनवर भी हों अर्थात् तीर्थंकर भी जब तक गृहस्थावस्थामें रहते हैं ऐसे तीर्थंकर देव भी इस परमात्माके आचरणको प्राप्त नहीं कर सकते हैं अर्थात् हंसा-

चारको नहीं प्राप्त कर सकते हैं। जैसे पक्षियोंमें लोककाव्यमें हंसका आचरण शुद्ध है, गम्भीर है, मायाचार नहीं है, ऐसा सरल गभीर आचरण मुक्तका है।

हंसकी इज्जत बगलाने बढ़ाया क्योंकि बगला भी हंस जैसा होता है, किन्तु बगला होता है चालाक, पापी। उस बगलेने हंसकी बड़ी प्रतिष्ठा बढ़ा दी। सज्जनोंकी प्रतिष्ठा दुर्जनोंकी वजहसे बढ़ती है। किसी गांवमें सब सज्जन ही सज्जन हों, कोई दुर्जन न हो तो कौन किसको कहेगा कि तुम बड़े सज्जन हो और जिस गांवमें दुर्जन भी हैं और सज्जन भी हैं तो उसमें दुर्जनोंके कारण उन सज्जनोंकी प्रतिष्ठा बढ़ जाती है। तो हंस जो है वह भीतर सरल, बाहर सरल है, जिसे कहते हैं कि भीतर भी सफेद बाहर भी सफेद, कालापन कहीं नहीं है, और हंस गम्भीर है, जिसको सुनते हैं कि मोती उसका भोजन है, हंस मोती चुगता है, जिसको अन्य पदार्थोंकी आसक्ति नहीं है ऐसा वह गम्भीर है कि कोई बात गुजरने पर मोती भी छोड़ दे। तो जैसे हंस अंतरमें उज्ज्वल, बाहरमें उज्ज्वल है इसी प्रकार यह आत्मा अन्दर और बाहर से उज्ज्वल है। ऐसा आत्माको वे पुरुष नहीं पा सकते हैं जो चिंता करते हैं।

चिंता एक आत्माका अशुद्ध परिणमन है, विकारी भाव है। आत्मा का स्वभाव शुद्ध, चिंतारहित ज्ञानमात्र केवल ज्ञाता द्रष्टा रहे ऐसा उसका स्वभाव है। उस परमात्म पदार्थसे विलक्षण यह चिंता है। सो यह चिंता यदि है तो समझ लो कि यह संसार न टूट सकेगा। संसारका अर्थ है भ्रमण, संसरण, परिभ्रमण। जीवका परिभ्रमण कहां हो रहा है? तो व्यवहारसे तो इस लोकमें हो रहा है। इस बाह्य स्थानमें हो रहा है, और निश्चयसे आत्माका कहां परिभ्रमण हो रहा है? अपने आपकी कल्पना में। कैसी कल्पना इसकी तेज दौड़ती है कि हजारों मील पाव सेकेण्डमें ही पहुंच जाय। पाव सेकेण्ड भी बहुत है, ख्याल किया और पहुंच गया। न इसके पंख हैं, न पैर हैं, पंख और पैर होते तो धीरे-धीरे जाता, पर न पंख हैं न पैर। जिस काल विचारा उसी काल पहुंच जाता है। तो चिंता-सक्त पुरुष इस संसारसे छूट नहीं सकता।

आत्माका स्वरूप तो संसाररहित है, परिभ्रमणरहित है, इसका कार्य तो मात्र जानन है, मगर क्या दशा हो गयी कि बंधनमें पड़ा है। यह अपने खुदका ही अपराध है। अब बतलावो परवस्तुसे मोह न करो तो क्या जीव मिट जायेगा, पर नहीं मान सकते। करते तो हैं मोह। न मान लो, किसीको अपना न मानो तो क्या बिगड़ गया सो बतलावो?

किसी बाह्य वस्तुको अपनी न मानो तो क्या विनाश हो गया ? आत्मा मर गया या शरीर गुजर गया या प्राण निकल गए या कौनसा सकट आ गया ? पर यह ऐसा रह नहीं पाता है। तो जो ममत्व रखता है, जिस के अज्ञानभाव लगा है उसके ससार नहीं टूट सकता।

जब तक तीर्थंकर भी छद्मस्थ अवस्थामें रहे तब तक उनके शुभ-अशुभ चिंताएँ रहीं, जब तीर्थंकर लड़के थे तो क्या किसी की बात न मानते होंगे, क्या किसी को आज्ञा न देते होंगे, क्या उन्हें क्षोभ न होता होगा ? कोई न कोई बात तो उन्हें असुहा अथवा सुहा ही जाती होगी। तो चिंतामें रहने वाले तीर्थंकर भी हसाचारको नहीं प्राप्त कर सके। हँस मायने परमात्मा। हँसकी तरह जो निर्मल हो उसे कहते हैं हस याने परमात्मा। जिनका ज्ञान निर्मल हो गया उन्हें न किसी पदार्थके सम्बन्धमें सशय है, न भ्रम है, न मोह है। ऐसा वह हंस परमात्मा है। उसका आचरण क्या है ? रागादिकरहित शुद्ध आत्माका परिणमन होना। इस बातको वे चितासक्त पुरुष नहीं प्राप्त कर सकते हैं। इस कथनसे हमें यह शिक्षा मिलती है कि हम समस्त चिंताजालोंको छोड़ें।

भैया ! चिंता तब होती है जब देखी, सुनी, या अनुभवी चीजमें आकांक्षा हो। इच्छा होती है ना, तो देखी हुई चीजोंमें इच्छा होती है, सुनी हुई चीजोंमें इच्छा होती है और भोगी हुई चीजोंमे इच्छा होती है। वह समस्त इच्छाजाल मिट सकता है तो इच्छारहित शुद्ध चैतन्यस्वरूप के अनुभवनसे मिट सकता है। मैं तो इन सबसे न्यारा हू। जैसे बडे कुल का कोई बड़ा पुरुष होता है तो किसी तुच्छ बातमें भी लग जाय तो भी अपने को जल्दी सभाल लेता है। अरे, मैं ऐसे बड़े कुलका हू, यह मेरे करने योग्य नहीं है, ऐसा खोटा परिणाम कैसे बन गया ? वह सभल जाता है। इसी प्रकार ज्ञानीजन भी, कदाचित् कर्मोदयसे अशुभकार्योंमे भी लगें तो भी जल्दी सभल जाते हैं। अरे मेरा शुद्धस्वरूप केवल चैतन्यमय है, मेरा काम तो मात्र ज्ञाताद्रष्टा रहनेका है। इनमे कहा रम रहा हू ? वह अपनेको बाह्य विषयोंसे हटाकर अपने आपमें सुगमतया ले जाता है। तो ये कोई आकांक्षाएँ नहीं होतीं।

सो भैया ! चिंतारहित जो शुद्ध आत्मा है उसमें सर्व तत्परताके साथ उसकी भावना करनी चाहिए। जैसा अपनेको बार-बार भायेगा उसके उसके अनुकूल उसका काम होगा। जैसे कोई नाटकमें पार्ट लेवे किसीका और वहा ऐसा ही ख्याल वह एकदम बना ले कि मैं तो अमुक ही हू, तो जैसा उसे जोश चाहिए, जो यत्न चाहिए, वह जोश और यत्न उसमें आ

जाता है। अपने आपको कोई यों ही देखे कि मैं कर्मोंसे बहुत बधा हूं, बड़ा फँसा हू, सारे दु:ख सारे सकट आये हुए हैं, मै बहुत विपत्तियोंकी स्थितिमें हू, तो विपत्तिया उसके सामने हैं हीं। और कुछ भी हालत हो, जब यह निरखे कि मैं तो वहीं का वहीं हूं—आत्मस्वरूप, परमात्माकी तरह, सबसे न्यारा, अतरगमें एक चैतन्यमय मात्र तत्त्व हू, हमारा किसी से भी सम्बध नहीं है ऐसी दृष्टि अपने आपकी आए। क्या किसी अन्यसे इसका सम्बध है ? जैसे सब जीव हैं तैसे ही यह हंस भी है। सर्व एक समान स्वरूप वाले हैं। जहा ऐसी दृष्टि जगायी कि सकट समाप्त हो जाते हैं।

जोइय दुम्मइ कवण तुहुं भवकारणि ववहारि।
वंभु पवच हिं जो रहउ सो जीणवि मणु मारि ॥१७१॥

कहते हैं कि योगी! तेरी क्या खोटी बुद्धि हो रही है जो तू संसार के कारणभूत व्यवहारमें तो रहता है और अपना जो निश्चय स्वरूप है उसकी ओर ध्यान नहीं देता। सर्वप्रपंचोंसे रहित जो शुद्ध आत्मा है उसको जान और विकल्परूपी मनको मार। ब्रह्म और प्रपच। ब्रह्म तो हुआ चतन्यस्वरूप और प्रपच हुआ यह मायास्वरूप। बाह्य प्रपंच और अतरङ्ग प्रपच ये सब कीडे मकौड़े, पुरुष, स्त्री, बालक, पक्षी आदि हुए और अतरङ्ग प्रपच मिथ्यात्व, रागद्वेष, कषाय, इच्छा, आदि हुए। इन दोनों प्रकारके प्रपचोंसे रहित वह शुद्ध ब्रह्म है, चैतन्यस्वरूप है।

भैया! शब्द वे ही हैं जिन्हें वेदान्ती भी बोलते हैं उन्हीं शब्दोंको यहा भी बोला गया, पर जिनकी जैसी दृष्टि होती है उस दृष्टिसे वैसा ही वे अर्थ लगाते हैं। कोई यों अर्थ लगाता कि ब्रह्म एक है और ये नाना प्रपंच हैं, ये माया हैं, ब्रह्म तो निर्विकार है और फिर सबकी जड़ भी है। इसे घटा लो अपने आपमें कि जो शुद्ध चैतन्यस्वरूप है, खाली जो वहा असाधारण स्वभाव है वह स्वभाव भी सर्वत्र एक है। स्वभाव दो नहीं होते हैं, और वह स्वभाव अपरिणामी है, अविकारी है, स्वय स्वभावमें विकार नहीं पड़ा है, और ये जो नाना प्रपच हैं, ये मायारूप हैं, अनेक पदार्थोंके सयोगरूप हैं। बात एक घट गयी, पर जिसकी जैसी दृष्टि है वह उस ही प्रकारका इसमें अर्थ लगायेगा।

स्वरूप एक है, जीव नाना हैं, यह भी ठीक है पर वह स्वरूप, ब्रह्म क्या परमार्थत. अन्य जीवोंसे अन्य जीवोंसे अत्यन्त पृथक् वस्तु है, तो ऐसा जो आत्माका ब्रह्मस्वरूप है उस ब्रह्मस्वरूपमें बुद्धि करू और अपने विकल्पजालोंका हनन करू। न लगाऊँगा चित्त यदि एक अपने चैतन्य-

स्वभावमें तो विकल्प होगा ही। और, विकल्प यही है कि अपने स्वभाव का वहां अनुभवन नहीं है। सो हे योगी! तू व्यवहारमें मत लग। अर्थात् ससारके कारणभूत् जो ये समस्त प्रपंच हैं इन प्रपंचोंको तू सत्य मत मान। ज्ञान है ना, तो उसकी दृष्टि सारे जीवोंमें परमार्थके निरखनेकी होती है। परमार्थसे सब जीव एक चैतन्यस्वभावमात्र हैं, और यह जो बखेड़ा है यह किसी एकका काम नहीं है। अनेक द्रव्योको मिलाकर यह बखेड़ा हुआ है। यदि पदार्थोंके अद्वैत स्वभावकी दृष्टि हो तो यह बखेड़ा फिर नहीं दिखता हैं। इन प्रपचोंसे अपनेको हटावो और विकल्पजाल-रूपी मनको मारो, यह शुद्ध आत्मद्रव्य शुभ अशुभ मन, वचन, कायके व्यापारसे रहित है।

भैया! यह ही तो व्यवहार है, मनकी प्रवृत्ति, वचनकी प्रवृत्ति है और कायकी प्रवृत्ति। इसीको ही व्यवहार कहते हैं, पर आत्मामें तो केवल ज्ञाता द्रष्टाकी स्थिति है, प्रवृत्ति नहीं है। तब फिर क्या करना है कि ब्रह्मको जानकर मनको मारना चाहिए। ब्रह्म अर्थात् आत्माके ही समान जो एक स्वरूप हैं उस स्वरूपको जानो और विकल्पोंका परिहार करो। जैसे खानेके लोभी पुरुषको जब तक स्वादिष्ट भोजन नहीं मिलता है तब तक वह साधारण भोजन का त्याग नहीं कर सकता है, क्योंकि वह अशक्त है। उसे तो चाहिए मौजका साधन। यदि उसे बड़े मौजका साधन मिले तो वह छोटे मौजको दूर कर सकता है। इसी तरह इस जीवको यदि शाश्वत् परमार्थ आनन्दका निधान निज ज्ञायक स्वभाव दृष्ट हो जाय और उस परम आनन्दका अनुभव हो तो वह विषय विषरसका त्याग कर सकता है। इसे तो आनन्द चाहिए।

यदि महान् वास्तविक स्वाधीन परमार्थ आनन्द मिलता है तो परा-धीन मायारूप विनाशीक इस विषय सुखका कौन आदर करेगा? सो अपने शुद्ध आत्माको जानो। कैसे जानो? वीतराग स्वसम्वेदन ज्ञानकी परिणति बनाकर जानो। जैसे कोई अच्छी मिठाई बनाए, मानो छोटी बूंदीके लड्डू बनाए, और दूसरेसे वह कहे कि इसे जरा देखना। तो वह उसे ले लेगा और मुंहमें डालकर खा जायगा। कोई कहे कि वाह, हमने तो लड्डू देखने को कहा था। अरे तो लड्डूका देखना इसी तरह होता है। उसका भली प्रकार ज्ञान खानेसे ही होगा। भोज्यवस्तुका सही ज्ञान आंखोंसे देखनेसे न होगा, बगैर चाखे बिना न होगा। तो जैसे भोजनके जाननेकी तरकीब चखना है, इसी तरह आत्माके जाननेकी तरकीब स्वसम्वेदन है। वचनोंसे नहीं जान सकते है।

अपने आपका जो शुद्धस्वरूप है चैतन्यमात्र अर्थात् कोई पदार्थ होता है तो अपना स्वरूप रखता है। तो इस आत्माका भी तो कुछ स्वरूप है ना। वही चैतन्यमात्र प्रतिभास। बस प्रतिभासमात्र उस एक जाननका उपयोग बन जाय और दूसरा विकल्प न करें, वही मात्र जाननमें रह जाय इसीको कहते हैं स्वसम्वेदन और फिर यह प्रश्न हुआ कि स्वसम्वेदन क्या चीज है ? तो अब तो इसमें बताया जा रहा है कि आत्माका ज्ञान स्व-सम्वेदनसे होता है, और स्वसम्वेदनका ज्ञान स्वसम्वेदनसे होता है शब्दों द्वारा नहीं होता है। ऐसा साधन बनाएँ कि चिंता न आ सके, ममता परिणाम न बन सके और फिर अपने ज्ञानयोगको भी अपनाएँ तो उस बीचमें स्वयं स्वसम्वेदन होता है तो यह स्वानुभव होता है। प्रयत्न तो ज्ञानका है, इसके सिवाय और क्या प्रयत्न किया जाय ? जिसको ज्ञानकी रुचि है उसे स्वके जाननेकी स्वयमेव ऐसी बुद्धि बनेगी कि बाह्य प्रपचमें उसका उपयोग न लगेगा। ऐसा हो जाय तो अपने हितकी बात है।

भैया ! ऐसी स्थिति बनेगी तो अपने आपमें गुप्त रहकर ही बनेगी। किसीको दिखाने, बनाने या सजावट बतानेकी जरूरत नहीं है। अपने हितकी इच्छा हो तो कहीं भी हो, गुप्त ही हो, गुप्त ही होकर अपना हित हो सकता है। अपने बाह्य विकल्पोंको छोड़कर कुछ अपने ज्ञानस्वभावके जाननेके रसका अनुभव करना चाहिए। करने बैठो तो कहो न हो और घरमें या चलते फिरते या किसी जगह या आराम करते कड़ो हो जाय। जैसे स्वसम्वेदनकी उत्पत्तिका प्रथम तो मनसे सम्बन्ध है पर जब स्वसम्वेदनकी अवस्था है उस समय मन काम नहीं करता है। वेसे सभी जीवोंको स्वसम्वेदन हैं पर वीतराग स्वसम्वेदन अर्थात् रागद्वेष रहित जैसा स्वरूप है उस रूपमें हो यह सज्ञी जीवोंमें ही हो सकता है।

भैया ! अपना किसे पता नहीं है मैं सुखी दुःखी होता हू, ऐसी कल्पना होती है, मैं आफतमें हू, मैंने यह किया, तो यह भी स्वसम्वेदन है, पर यह स्वसम्वेदन स्वरूपका स्वसम्वेदन नहीं है। गलत स्वसम्वेदन है, मिथ्या स्वसम्वेदन है। स्व मायने अपना, सम्वेदन मायने ज्ञान। अपना गलत ज्ञान, अपना सही ज्ञान दोनों स्वका संवेदन है, पर स्वसम्वेदनकी रूढ़ि सम्यग्ज्ञानसे है। स्वसम्वेदन ज्ञान करना यह तो सब जीवोंके लिए है। कोई अपने को रागरूपसे ज्ञान करता है, कोई अपने को शुद्धस्वरूपसे ज्ञान करता है, पर उसमें जो वीतराग विशेषण लिए है वह वीतराग स्व सम्वेदन है। तो उसका अर्थ यह है कि रागद्वेषरहित शुद्ध ज्ञानमात्र जैसा अपनास्वरूप है उसका ही ज्ञान करनेका तो नाम स्वसम्वेदन है।

भैया ! स्वसम्वेदनका घनिष्ट परिचय स्वसम्वेदन करके ही हो सकता है। जैसे भोजनका घनिष्ट परिचय खाकर ही हो सकता है, बातो से नहीं, आखोंसे देखने से नहीं। इसी तरह आत्मा का स्वसम्वेदन शब्दोंसे नहीं, चर्चासे नहीं किन्तु करके कोई देखे तो उसे स्वसम्वेदन हो सकता है। तो ऐसे वीतराग स्वसम्वेदन द्वारा अपने शुद्ध आत्माको जानकर क्या करें कि अनेक मानसिक विकल्पजालोंसे रहित जो निज परमात्म स्वरूप है उसमें स्थित होकर इस विकल्पजालको नष्ट करे। वस्तुस्वरूपका ध्यान किया, विचार किया, यहा तक तो मन चला, फिर इसके बाद मनने ले लिया विश्राम, सो शांति हुई आत्मामें। तो यहा उत्पत्तिमे मनकी अपेक्षा है पर ज्ञप्तिमें मनकी अपेक्षा नहीं है।

सव्वहिं रायहिं छह रसहिं यंचहिं रूवहिं जतु।
चिन्तु णिवारिवि झाहि तुहु अप्पा देउ अणतु ॥ १७२ ॥

तू समस्त रागोंसे, ५ रसोंसे चलायमान् चित्तको रोककर अपने वीतराग परम आनन्दस्वरूपका ध्यान कर। वीतराग परमानन्द सुखके कराने वाले अविनाशी शुद्ध आत्माका एकाग्रचित्त होकर ध्यान कर। वीतराग शुद्ध आत्मद्रव्यसे विमुख जो समस्त शुभ अशुभ राग हैं, जो ६ प्रकार के रस हैं उनमें निरन्तर चित्त जाता है, उसको रोककर तू आत्मदेवका ध्यान कर। जो केवल ज्ञानादिक अनन्त गुणों का आधार, अनन्तसुखोंका आधार, अविनश्वर है, ऐसा जो आत्मदेव है उसका तू ध्यान कर। जगतमें कोई भी पदार्थ अपने आश्रय के योग्य नहीं है। किसका सहारा लें, किसकी शरणमे जाएँ? प्रत्येक पदार्थ जितने हैं वे सब अपने आपमें ही अपनी क्रिया करते हैं। सो सब रागोंसे अपने चित्तको रोककर एक अपने शुद्ध आत्मतत्त्वको ध्यावो।

ये पुद्गल हैं, इनमें रूप है, रस है, गंध है, स्पर्श है, और उनके उपयोग करनेसे कैसा यह मोहका प्रताप है कि यह अपने आपको उनमें उपयोग दे करके अपना भ्रम बनाता है। मुझे रससे सुख हो, रूप देखनेसे सुख हो, शब्द सुननेसे सुख हो, ऐसा यह अपने आपमें अपना ध्येय बनाता है। ६ प्रकारके रस हैं मीठा, खट्टा, कड़वा, चरफरा, कषायला—इन रसोंमें जिसकी गृद्धता होती है उससे फिर और-और तरहके कर्मोदय भी होते हैं। जो वैरागी पुरुष है उसके इन रसोंमें राग नहीं रहता है। अपना ध्येय अपने शुद्ध आत्मतत्त्वमें लगाना है। देव, शास्त्र, गुरुकी श्रद्धा करना एक मोक्षमार्गमें प्रवेश करने के लिए कारण है।

देव कैसा होना चाहिए जिसमें १८ प्रकारके दोष न हों-जो केवल

ज्ञानादिक अनन्त गुणोंका निधान है जिसमें तीन लोक, तीन कालके समस्त पदार्थ ज्ञात होते हैं। किन्तु उनके कोई ममत्व नहीं है। रूप भी ज्ञात होता है पर रूप देखनेका राग भगवान्के नहीं है। रस भी ज्ञात होता है, पर रस चखनेका राग प्रभुके नहीं है। गंध स्पर्श भी चलता है किन्तु उसके रूप नहीं है। वीतराग निज शुद्ध आत्मद्रव्यसे विपरीत जो ये सर्व प्रकारके शुभ अशुभ राग हैं उन रागों से, रसोंसे, रूपोंसे वह रहित है। इसलिए जो उन रागोंमें अपना चित्त जाता है उस चित्तको हटावो। ये रस ६ प्रकारके त्यागे जाते हैं, मगर ये तो त्यागनेके रस हैं, और पुद्गलमें जो रस हैं वे मीठा, कडुवा, चरफरा कषायला आदि हैं, पर कडुवा रसका त्याग उनमें नहीं बताया, क्योंकि कडुवा कोई खाता नहीं है। चरफराको भी नहीं बताया है, क्योंकि उसमें भी कुछ आसक्ति नहीं है। दूध, दही, घी, मीठा इनमें आसक्ति है, सो इनका त्याग बताया है। तो जिसका स्वाद इसे इष्ट हो उस चीजका इसे त्याग कराया है। तो शुद्ध आत्मतत्त्वसे प्रतिपक्षभूत् जो काला, नीला आदि रूप हैं उनसे ममत्व छोड़ो और जो रस हैं उनसे ममत्व छोड़ो और एक अपने आपके शुद्ध आत्मस्वरूपमें आवो। अपने आत्माको जिस रूपसे विचारो उस रूप परिणमता है। अपने को वहिरात्मा रूपसे देखो तो यह वहिरात्मारूप चलेगा और अन्तरात्मारूपसे देखो तो अन्तरात्मारूपसे चलेगा। इस बातको अब इस दोहे में कह रहे हैं।

जेण सरुवि झाइयइ अप्पा एहु अणंतु।
तेण सरूवि परिणवइ जइ फलिहउ मणि मंतु ॥१७३॥

यह अविनाशी आत्मा जिस स्वरूपसे ध्याया जाता है उसी स्वरूप यह परिणम जाता है। जैसे मंत्र वाले मंत्र पढते जाते हैं और दूसरी जगह काम होता जाता है। इसी तरह अपने स्वरूपका जिस तरह से ध्यान किया जाता है उस स्वरूपसे वहां काम होता है। यह आत्मा शुभ, अशुभ और शुद्ध इन तीनों रूपोंसे परिणमता है। जो अशुभरूपसे अपने आत्माका ध्यान करता है वह अशुभरूप परिणम जाता है। जो शुभ रूपसे अपने आत्माका ध्यान करता है वह शुभरूप परिणम जाता है और जो शुद्धरूपसे अपने आपका ध्यान करता है वह शुद्धरूप परिणम जाता है।

जैसे स्फटिक मणिके नीचे जैसा ही रंग लगाया काला, पीला, नीला, लाल आदि तो वह उसी रूप परिणम जाता है। अंगूठेमें जो मुदरी पहिनते हैं उसमें नग जड़ा जाता है। वह नग जिस रंगका नीचे होता है

वैसा ही उसका रंग लगता है। इसी तरह अपने आपके स्वरूपका चिंतन करनेसे उस ही प्रकारका यह आत्मा परिणमता है। जो अशुभोपयोगका ध्यान करे तो पापरूप परिणमता है, शुद्धोपयोग का ध्यान करे तो पुण्य रूप परिणमता है और शुद्धोपयोग रूप ध्यान करे तो शुद्ध रूप परिणमता है।

मंत्र वाले कितने ही ऐसे होते हैं जैसे किसीको गाड़ीका चका तोड़ना है तो जरासा धुराकी तरफ बढ़कर उस चकेका ध्यान किया कि इस चके को हमें तोड़ना है, ऐसा अपने आत्मामें बलसा रखकर उसने कल्पनामें चका तोड़ दिया या ठठेरेका बना कर कल्पना करके चका तोड़ दिया जाता तो टूट जाता है। ऐसा मंत्र दिखाने वाले लोग करते है। तो जिस रूपसे परिणमा हुआ ध्यान किया वैसा ही अपने आपको परिणमा दिया तो यह आत्मा जो अनन्त है, अविनाशी है, वीतराग अनाकुलता रूप, अनन्त सुख आदि अनन्त शक्तियोंसे परिणत है और प्रत्यक्षीभूत है। तो जैसा शुभ अशुभ भावोंरूपसे यह आत्मा ध्याया जाता है उसी तरह स्फटिक मणिकी तरह यह आत्मा परिणत हो जाता है। जैसे मंत्रमें बाहर जिस-जिस स्वरूपसे उपयोगको लगाता है यह उस रूपमे तन्मयताको प्राप्त होता है इसी तरह इस दृष्टांतसे यह ध्यान करना कि यह आत्मा जिस-जिस रूपसे विचारा जाता है उस-उस रूप परिणम जाता है। ऐसा जानकर मनमें निर्णय तो करो। यदि हमें शुद्ध बनना है तो अपनेको खालिस रूप से ध्यान करें। सब प्रकारके रागादिक विकल्पोंका त्यागकर अपनेको एक शुद्धरूपसे ध्यान करना चाहिए।

एहु जु अप्पा सो परमप्पा कम्मविसेसे जायउ अप्पा।
जामइँ जाणइ अप्पे अप्पा तामइ सो जि देउ परमप्पा ॥१७४॥

यह जो परमात्मा है, जो कर्म विशेषसे जात है वह जिस समय वीतराग निर्विकल्प स्वसम्वेदन ज्ञान द्वारा अपनेको जानता है उस समय यह आत्मा ही परमात्मदेव है। निजशुद्ध आत्माकी भावनासे उत्पन्न हुआ जो परमानन्द है उसके अनुभवमें क्रीड़ा करनेसे यह देव कहा जाता है। यह ही आराधने योग्य है। जो आत्मा शुद्ध निश्चयकरि भगवान केवलीके समान है, ऐसा परमात्मदेव शक्तिरूपसे देहमे है। वह ऐसा शक्त यदि प्रारम्भसे न होता तो केवलज्ञानके समय कैसे प्रकट होता? जैसा परमात्मा हुआ जाता है वह शक्ति रूपसे अब भी मुझमें है। अगर शक्तिरूपसे न होता तो तपस्या करके भी न प्रकट होता।

बालूमें तेल नहीं होता है, तो कितना ही यंत्रोसे पेला जाय पर

उससे तेल नहीं निकल सकता है। तिलोंमें तेल निकलनेकी शक्ति है तो जब पेला जायेगा तो तेल स्वयं व्यक्त हो जायेगा। इसी तरह हम आप जितने आत्मा हैं इनमें परमात्मत्व बसा हुआ है और यह परमात्मतत्त्व यदि न होता तो यह परमात्मा नहीं हो सकता था। निज शुद्ध आत्माकी भावनासे उत्पन्न हुआ जो अनन्त आनन्द है उसके अनुभवमें क्रीड़ा करनेसे परमात्मदेव प्रकट हो जाता है। यह परमात्मदेव ही आराधनेके योग्य है। उस निज शुद्ध आत्माके अनुभवके कालमें यह परम आराध्यदेव स्वयं अनुभवमें आता है।

भैया! कैसा है यह परमात्मा कि शुद्ध निश्चयसे देखा तो ज्ञान, दर्शन, शक्ति, सुख स्वरूप है और क्षुधा तृषा आदिक १८ दोषोंसे रहित है। ऐसा निर्दोष यह हम आपका परमात्मा है। मगर अनन्त कर्मोंका बंधन लगा है। अपनी बुद्धिका दोष हुआ तो यह पराधीन हो गया। "मैं वह हूं जो हैं भगवान, जो मैं हूं वह हैं भगवान।" पर अपने दोषसे यह पराधीन हो गया। वीतराग निर्विकल्प स्वसम्वेदन ज्ञानमें परिणत आत्माके द्वारा मैं अपने शुद्ध आत्माको ही अनुभवूँ। अपने शुद्ध आत्माकी भावनासे उत्पन्न जो वीतराग सुखका अनुभव है उससे जो दिव्य है ऐसा यह देव परम आराध्य है। शुद्ध निश्चयसे मुक्तिगत परमात्माके समान है। ऐसा यह परमात्मा शक्तिरूपसे देहमें यदि न होता तो केवल ज्ञानकी उत्पत्ति कैसे होती? मिट्टीमें घड़ा बननेकी शक्ति न हो तो कुम्हार क्या बना देगा? किसीने धूलसे रोटी बनाया है क्या? धूलमें रोटी बननेकी शक्ति ही नहीं है। आटेमें रोटी बननेकी शक्ति है सो उससे रोटी बन जाती है। तो ऐसा यह परमात्मा शक्ति रूपसे देहके मध्य है। अब इस ही अर्थको और आगे व्यक्त करते हैं।

जो परमप्पा णाणमउ जो हउँ देउ अणंतु।
जो हउँ सो परमप्पु परु एहउ भावि णिभंतु ॥१७४॥

जो अनन्त देव है वह मैं हूं, जो मैं हूं ऐसा वह परमात्मा है, ऐसा निःसंदेह हो करके तू अपने आपकी भावना कर। जो परमात्मा ज्ञानस्वरूप है वह मैं ही हूं, अविनाशी देव ही हूं। जो मैं हूं वही उत्कृष्ट परमात्मा है। इस प्रकार निःसंदेह तू भावना कर। जब अपनी और प्रभुकी तुलना की जाती है तो स्वभावपर दृष्टि जाती है। परिणमनदृष्टिसे देखो हम और भगवान बिल्कुल बराबर हैं क्या? हम यहां जन्म मरण कर रहे, नाना ऐब लगे हैं और वह परमात्मा निर्दोष है। पर स्वभावकी जब दृष्टि करते हैं तो हम और भगवान् एक समान मालूम देते हैं। हम आत्मा हैं वह परमात्मा

है। आत्मा और परमात्मामें यही फर्क है कि हम तो आत्मा हैं और वह परम आत्मा है। परम मायने उत्कृष्ट। हम हैं तो आत्मा पर वह है उत्कृष्ट आत्मा।

यहां हम आप आत्मा उत्कृष्ट नहीं हैं। जो उत्कृष्ट आत्मा है उसे कहते हैं परमात्मा। तो ऐसा सर्वोत्कृष्ट अनन्त ज्ञानादिकरूप जिसके लक्ष्मी है वह परमात्मा है। वह ज्ञानसे ही रचा गया है, ज्ञानमय है। ऐसा ही मैं हू। पर व्यवहारदृष्टिसे कर्मोंके आश्रित होकर रह रहा हू तो भी निश्चयसे वही मैं हू जैसा कि वह परमात्मा है। यद्यपि व्यवहारनयसे कर्मोंसे मै बधा हुआ हू तो भी निश्चयसे मेरा बंधन कुछ नहीं है। जैसा भगवानका स्वरूप है वैसा ही मेरा स्वरूप है। जो आत्मा परम आराध्य योग्य है, अनन्त सुख आदि गुणोंका निवासरूप है ऐसे उस परमात्मतत्त्व को देखो।

जो परमात्मा है वही ज्ञानमय आत्मा है। परमात्मा कोई एक प्रसिद्ध उत्कृष्ट आत्मा कहलाता है। जिसे भगवान, ईश्वर आदि किन्ही भी शब्दोंसे कह लो। वह परमात्मा क्यों कहलाता कि वह परमात्मा हो गया है याने उत्कृष्ट गुणमय हो गया है। परमात्मामें दो शब्द हैं—परम और आत्मा। परमका अर्थ है उत्कृष्ट, जहां अनन्त ज्ञानानन्द उत्कृष्ट लक्ष्मी पायी जाती है, ऐसे उत्कृष्ट लक्ष्मीवान् आत्माको परमात्मा कहते हैं। वह ज्ञानसे रचा हुआ है। समयस्वरूप मेरा ज्ञानमय है। यद्यपि व्यवहारनयसे यह मैं कर्मोंसे आच्छादित हू तो भी निश्चयसे वह ही मैं परमात्मा हू जो परम आराध्यदेव है। वह अनन्त सुखास्पद है। जो मै अपने देहमे स्थित हू वह ही निश्चयसे परमात्मा है। जो भगवान् है वह मै हू, जो मैं हू वह भगवान् है, स्वभावके सादृश्यरूप क्योंकि चैतन्य जाति एक है, वह चैतन्य विशिष्ट द्रव्य है और यह मैं चैतन्य विशिष्ट द्रव्य हू। सो वह परमद्रव्य है। ऐसे परमात्माकी हे प्रभाकर भट्ट तू भावना कर, कोई सशय मत ला।

भैया! यह वर्णन इस प्रयोजनके लिए है कि यह निश्चय हो जाय कि अपने देहमें भी शुद्ध आत्मा है। परम आत्मा होकर जो परमात्मा हुए हैं वैसा ही स्वरूप तुम्हारे इस आत्मामें भी है जो देहमे स्थित है। ऐसा निश्चय करके उस शुद्ध आत्माका आश्रय करो। मिथ्यात्व आदिक आशय हो जाय, उसके निमित्तसे अपनी ही परिणतिसे आत्मामें होने वाले केवल ज्ञानादिक उत्पत्तिके बीजभूत कारण समयसार नामक अपने शुद्ध आत्मा की एकदेश व्यक्तिको पाकर जो आगम भाषासे वीतराग सम्यक्त्व आदिक रूप हैं उसको पाकर सब तात्पर्योंसे उसकी भावना करना चाहिए। अब

इस ही अर्थको एक दृष्टांत द्वारा समर्पित करते हैं।

णिम्मल फलिहहँ जेम जिय भिण्णउ परयिउ भाउ।
अप्पसहावहँ ते मुणि सयलु वि कम्मसहाउ ॥१७६॥

हे जीव! जैसे नीचेके सब डंक निर्मल स्फटिक मणिसे जुदा हैं इसी तरह इस आत्मस्वभावसे सारे कर्मभाव भिन्न हैं। कोई हीरेकी अंगूठीमें स्फटिकके नीचे डक या कागज लगा है तो वह जिस समय उसमें लगा है उस समय तो दिखता है पर वह कागज उस स्फटिकसे अत्यन्त जुदा है। कागजमें स्फटिक नहीं गया, स्फटिकमें कागज नहीं गया, फिर भी निमित्त नैमित्तिक भाव ऐसा है कि वह स्फटिक ऐसी योग्यता वाला उपादान वाला है कि उसमें उपाधिकी झलक आ जाती है। फिर भी कागज उस स्फटिकसे अत्यन्त जुदा है। इसी तरह बाह्य उपाधिका निमित्त पाकर आत्मामें राग-द्वेषादिक भाव हो जाते हैं फिर भी वे समस्त उपाधि कर्मोंके स्वभावरूप हैं, और यह आत्मतत्त्व चैतन्यस्वरूप है। सो सबको अपनेसे न्यारा मानो। आत्माका स्वभाव अत्यन्त निर्मल है और भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म ये सब अज्ञानरूप हैं। भावकर्म तो स्वरूपसे अज्ञानरूप है। द्रव्यकर्म, नो कर्म ये द्रव्यसे भी अज्ञानरूप हैं। किन्तु इन सबसे भिन्न आत्मा चैतन्य-स्वरूप है।

भैया! अपने आपका आत्मभगवान अपने आपका शरणभूत है। अपने आपमें अनादि अनन्त विराजमान् है। एक इस आत्मतत्त्वको न देखा सो यह सारा ससाररूप विषवृक्ष तैयार हो गया। तो अपने आपको समस्त परवस्तुवोंसे अत्यन्त भिन्न मानो। जैसे स्फटिकसे वह डक भिन्न है इसी तरह भिन्न सबसे न्यारे केवल अपने स्वरूपमात्र अपनेको पहिचानने से अपने आपकी ओर स्थिरता होती है, रुचि होती है, उन्मुखता होती है। यह परमात्मा अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त शक्तिरूप है और अपना? अपना ज्ञान कम है, दर्शन कम है, शक्ति कम है, आनन्द भी कम है, पर है तो सही।

जैसे जिस घोडेमें चाल खराब हो, कम हो, पर चाल तो है, उसको सिखाकर उसमें अच्छी चाल उत्पन्न कर सकते हैं पर जो काठका घोड़ा है, जिसे बच्चे लोग खेलते हैं, उसमे कोई चाल नहीं होती है। तो इसी तरह अपनेमें है तो ज्ञान, दर्शन, शक्ति, सुख। आज यह उल्टा चल रहा है अपने दोषसे तो कभी यह ठीक भी हो सकता है। तो ऐसे अनादि अनन्दपरमात्मस्वरूपसे भिन्न अपने भावकर्म, द्रव्यकर्म, नो कर्मको जानो। अब उस ही शरीर और आत्माकी भेदभावनाको दृढतासे कहते हैं।

जेम सहावि णिम्मलउ फलिहउ तेम सहाउ।
भंतिय मइलुवि मण्णिजिय मइलउ देक्खवि काउ ॥१७७॥

जैसे स्फटिक मणि स्वभावसे निर्मल है या कांच स्वभावसे निर्मल है इसी तरह सभी पदार्थ अपने आपमें केवल अपना स्वरूप लिए हुए रहते हैं। किसी दूसरे पदार्थसे कुछ सम्बंध नहीं है। हमारे इतने पुत्र हैं, घर है, धन वैभव है, ऐसा ख्याल करते हैं, पर वास्तवमें देखो तो यह देह भी तुम्हारा नहीं है। इस देहको तुम चाहते हो कि कभी बूढा न हो और होता है बूढा, इसका वियोग तुम नहीं चाहते हो पर वियोग हो जाता है, मर जाता है। तो देहभी अपना नहीं है तो बाह्यवस्तु अपनी कैसे होगी? एक पदार्थका दूसरा पदार्थ कुछ हो ही नहीं सकता है। ममता करते जावो पर उससे लाभ कुछ न होगा। सब पदार्थ अपने-अपने स्वरूपमे स्थित हैं। जैसे स्फटिक मणि स्वभावसे निर्मल है इसी तरह यह आत्मा स्वभावसे निर्मल है। अपने आत्मामें रागद्वेपभाव नहीं लगे हैं, ये सब इस जीवके अपने सहजस्वरूपके कारण नहीं लगे हैं। यह स्वभावसे तो परम निर्मल है। जैसा प्रभु है वैसा यह आत्मा है। ऐसे आत्मस्वभावको समझकर हे जीव! शरीरकी मलिनताको देखकर भ्रमसे अपने आपको मैला मत मान।

जैसे मैल लग गया तो अज्ञानी मानता है कि मैं मैला हो गया। अरे तू कहा मैला हो गया, अन्तरमें निहार-तू तो आकाशकी तरह निर्मल एक चैतन्य ज्योतिस्वभावी है। जाननेका उपाय यह है कि यह निहारें कि उस वस्तुके साथ उपाधि न हो और फिर जैसा उसका प्रकट रूप हो बस वही स्वभाव है। जैसे दर्पणका स्वभाव अपने आपको झलकते हुए शुद्ध ठहराना है, बस यही स्वभाव उसका प्रतिबिम्ब होने पर भी अन्तरमें है। इसी तरह स्वभावदृष्टिसे देखा जाय तो जगतके समस्त जीव उस अरहंत सिद्ध प्रभुके समान हैं, पर यह काम आत्मस्वरूपसे विलक्षण है, मलिन है। निर्मल शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव वाले परमात्म पदार्थसे विपरीत है।

शरीर जुदा है, जीव जुदा है। शरीरमें रूप, रस, गंध, स्पर्श हैं, जीवमें रूप, रस, गंध, स्पर्श नहीं हैं। यह जीव ज्ञानात्मक है और ये समस्त शरीर पुद्गल ये सब जड़ हैं। तेरे परमात्मस्वरूपसे यह शरीर तो अत्यन्त भिन्न है। विलक्षण है, जुदा है। तू इस शरीरकी किसी अवस्थाको देखकर अपने आपमे संतोष मत कर। इस कायको तू अशुद्ध देख और अपने आपमें बसे हुए इस ज्ञायकस्वभावी भगवानको तू शुद्ध निरख। जितना-जितना परवस्तुसे भिन्न वस्तुके एकत्वस्वरूप पर दृढ़ होगी उतना

ही यह जीव मोक्षमार्गमे प्रवेश करता चला जायगा। इस श्लोकमें शरीर और आत्मामें भेदविज्ञानकी भावना की है। अब उस ही पूर्वोक्त भेद-भावनाको कुछ दृष्टान्तों द्वारा व्यक्त करते हैं।

रत्तवत्थें जेम बुहु देहुण मण्णइ रत्तु।
देहिं रत्तिं णाणि तहँ अप्पुण मण्णई रत्तु ॥१७८॥

जैसे वस्त्र लाल पहिन लिया जाय तो पहिनने वाला पुरुष अपनेको लाल नहीं मानता, सफेद कपड़ा पहिन ले कोई पुरुष या स्त्री, तो क्या कोई यह कहेगा कि मैं सफेद हो गया हू ? यदि ऐसा कोई कहेगा तो उसे लोग बावला कहेंगे। लाल कपड़े पहिन लिया तो ऐसा कोई न कहेगा कि मैं ही लाल बन गया। कपड़ा लाल है, इस लाल कपडेके अन्दरमें मैं जैसा हू तैसा ही हू। तो जैसे कोई लाल वस्त्र पहिन ले तो वह अपने को रक्त नहीं मानता। इसी प्रकार शरीर भी कदाचित् रक्त हो जाय, लाल हो जाय, कुष्ठ हो जाय तो भी ज्ञानी पुरुष आत्माको जैसा है वैसा ही मानते हैं। आत्मा तो आकाशकी तरह निर्लेप शुद्ध चैतन्यमात्र है। सो उस लाल वस्त्र के पहिन लेनेसे अपनो को लाल रगका लौकिक पुरुष नहीं मानते। इसी तरह यह ज्ञानी जिसको अपने रागद्वेष रहित केवल शुद्ध स्वरूपकी श्रद्धा है ऐसा वीतराग निर्विकल्प स्वसम्वेदन ज्ञानी जीव शरीरके लाल होनेसे अपने आत्माको लाल नहीं मानता।

अथवा जैसे कोई विद्वान् पुरुष कपड़ा पुराना हो जाने पर अपनेको पुराना नहीं मानता, फटी कमीज किसीने पहिन लिया तो कोई नहीं मानता कि मैं फट गया। तो कपडेके पहिननेसे जैसे यह जीव उसी रगका अपनेको नहीं मानता, इसी तरह अवस्थाके अनुसार शरीरकी हालत जीर्ण हो गयी, बल कम हो गया, तो शरीरके जीर्ण हो जानेसे ज्ञानी पुरुष अपने को जीर्ण नहीं मानता, पुराना नहीं मानता। जैसे फटा कपड़ा कोई पहिन ले तो कोई पुरुष अपनेको यह नहीं कहता फिरता कि मैं फटा हो गया। लाल पीला कपड़ा पहिनने से कोई पुरुष यह नहीं कहता फिरता कि मैं लाल पीला हो गया। तो जैसे किसी भी वस्त्रके पहिनने पर कोई भी अपने को नानारूप नहीं मानता। इसी तरह यह ज्ञानी जीव भी शरीरकी कैसी भी स्थिति हो जाय तो भी वह अपनेको नानारूप नहीं मानता। इस ज्ञानी जीवको अपने उस सहज स्वरूपके बारेमें ऐसा दृढ़ निश्चय है, ऐसा तीक्ष्ण श्रद्धान है कि वह मात्र अपने उस चैतन्यस्वरूपका अनुभव करता है।

जैसे लोग ख्याल रखते हैं कि मैं इतने पुत्रोंका बाप हू, ऐसी सम्पत्ति

वाला हू, ऐसे पोजीशन वाला हू ऐसे ही ज्ञानी जीव अपने आपमें ऐसा परिणाम करता है कि मैं तो शुद्ध ज्ञानस्वरूप हूं, और किसी किसी समय तो अपने ध्यानसे इसे भी भूल जाता है कि मै मनुष्य हूं। यह जीव मनुष्य कब है, उपयोग दृष्टिसे कह रहे हैं भीतरमें कि जब यह अपनेको मनुष्य या मनुष्य जैसा आचरण करते हुए श्रद्धान करे कि मैं यह हूं, पर ज्ञानी जीव अपने आपमे ज्ञानस्वरूपका दर्शन करता है। मै ज्ञान मात्र हू, मनुष्य नहीं हूं स्त्री नही हू, बाप नहीं हू, बेटा नहीं हू। यह मैं तो आकाशकी तरह निर्लेप शुद्ध ज्ञानस्वरूप मात्र हू। तो देह और आत्माका भेदज्ञान करने वाला जीव अपनेको भिन्न पहिचान लेना है।

भैया! जब तक अपने शुद्ध स्वरूपपर दृष्टि नहीं होती तब तक अपना परिचय नहीं हो सकता। यहा शुद्धके मायने पर्याय शुद्ध नहीं, रागद्वेष रहित वीतराग नहीं रह रहे किन्तु यह मैं आत्मा अपने आपके अस्तित्वके कारण जैसा स्वत सिद्ध हू, मैं द्रव्यदृष्टिके द्वारा जैसा भावोंमें परिचित होता हूं ऐसा चैतन्यमात्र मैं आत्मातत्त्व हू। यह भेदविज्ञानकी भावना इस जीवको तब तक करना चाहिए जब तक यह ज्ञानमात्र उपयोग न रह जाय। जब तक विकल्प है, ध्यान है, राग है तब तक इसका उद्धार एक भेद विज्ञानकी ही भावनासे है। विकल्प रागादिकसे तो इस चिदानन्द प्रभुका घात होता है। जैसे पापके उदयमें वैभवको भोगते हुए भी इस चिदानन्द प्रभुका घात होता है इसी तरह बड़ा वैभव पाकर उनमे राग करते हुए अपने चैतन्यप्राणका वह घात करता है। इस कारण अपने आपके स्वरूप की रक्षा करना हो तो अपने को जैसा चित्स्वरूपसे हो, उस रूपसे निरख-कर तावन्मात्र अपनेको अनुभव करना चाहिए।

यह जीव व्यवहारकी मुख्यता करके निमित्तसे अपनेको कर्ता मानकर अपने स्वरूपसे चिगा रहा। और अपनेमे जो सामर्थ्य है उस सामर्थ्यका इसने गौरव न माना। जैसे कुम्हारके बीच बन्धे हुए गधे हों और वहीं सिंह हो तो एक सिंह भूलसे बचपनमें चला आया था तो अपने को भी गधा मानता था। वह सिंहका बच्चा सिंहकी दहाड़को सुनने और उसके रूप की अपने रूपकी तुलना करले तो उसमें भी ऐसा उत्साह जगता है और दहाड़ मारकर उस कुसंगसे निकल कर अपना स्वतत्र विहार करता है।

जसे स्वर्णकी डलीको रद्दे मैले कपडेमें बाध दिया जाय, तो स्वर्ण तो मलिन नहीं हुआ, वह तो अपने आपके स्वरूपमे जैसेका ही तैसा है। इसी तरह इस मलिन देहमें यह जीव बंध गया तिस पर भी यह जीव अपने आपमें अपने स्वरूप मात्र है, पर यह जीव बाह्य पदार्थोंमे ही दृष्टि गड़ाए

रहता है। किसी भी परपदार्थमें दृष्टि जाय, तब या तो राग करके मरेगा यह या द्वेष करके मरेगा या रौद्रध्यान करेगा या आर्तध्यान करेगा। कितना काल व्यतीत हो गया इस जीवको भ्रमण करते-करते ? जिसको वचनों से नहीं कहा जा सकता है। कर्म आवृतकी हालतमें कि लो यह मैं आत्मतत्त्व हू नो भेद विज्ञानकी भावना ही हम लोगोंको शरण है।

अपने व्यावहारिक जीवनमें चलते हुए भी जब जब हम भेदविज्ञान करते हैं-सबसे न्यारा इस चैतन्यस्वरूपको देखते हैं, या "सबसे जुदा हू, किसीसे सम्बन्ध नहीं है, न किसीके साथ आया हू, न किसीके साथ जाऊंगा" ऐसी भेद भावना दृढ होती है तो उसे शरण मिलती है। और अपना यह ज्ञान अपने पास न हो तो कहीं भी भटटें, कुछ भी मिल जाय, या तो रौद्रध्यान करके अपना जीवन निष्फल करेंगे, या आर्तध्यान करके निष्फल करेंगे। इस पुण्यके ठाठ वैभवके सम्बन्ध से भी इस आत्माकी दृष्टि परकी ओर होती हैं और परकी दृष्टिके समय कोई विपदा नहीं है। धन्य है वह आत्मा जिसको स्वदृष्टिसे रुचि है। अपने आपको सहज स्वरूप रूप में ही निरन्तर अपनेको देखना चाहता है। भवितव्य उत्तम होना है जिनका उनकी ही लगन इस स्वभावकी ओर होती है। बात करनेसे या कुछ दिखानेसे अन्तर में लाभ नहीं होता। अन्तरमें लाभ तो अन्तरके परिज्ञान से ही होता है। सो कैसी भी परिस्थिति हो, हमें यह तो विश्वास रखना ही चाहिए कि हू मैं सबसे न्यारा।

भैया ! कुछ भी हो, ये सब न कुछ की तरह हैं। अन्तमें छोड़कर ही जाना होगा। और जब तक जीवन है तब तक भी वे छूटे हुए हैं। जब ज्ञानदृष्टि जगे तब इसका भवितव्य सुधरता है। अहो, नहीं जगती दृष्टि, मलिनतामें जैसे अनन्तकाल खोया वैसे ही यह भी समय व्यतीत हो जायगा। यहा भेदविज्ञानकी भावनामें वस्त्रका दृष्टांत देकर समझाया है। मैला वस्त्र पहिनकर कोई अपनेको मैला नहीं मानता। इसी तरह ज्ञानी जीव मलिन देह होनेसे अथवा जीर्ण देह होनेसे अपनेको जीर्ण नहीं मनता। वह तो अपनेको अमूर्तआकाशवत् निर्लेप केवल शुद्ध स्वरूपमात्र देखता है।

वत्थु पणट्ठइ जेम बुहु देहु ण मण्णइ णट्ठु।
णट्ठे देहे णाणि तहँ अप्पु ण मण्णइ णट्ठु॥ १८० ॥
भिण्णउ वत्थु जि जेम जिय देहहँ मण्णइ णाणि।
देहुवि भिण्णउ णाणि तहँ अप्पहँ मण्णइ जाणि॥ १८१ ॥

जैसे वस्त्र नष्ट हो जाय तो देहको नष्ट कोई नहीं मानता, अगर

पहिने हुए कपड़े फट जायें तो कोई अपनेको यह नहीं मानता कि मैं फट गया हू इसी तरह यह देह नष्ट हो जाय तो ज्ञानी यह नहीं मानता है कि मैं नष्ट हो गया हू। व्यवहारमे इसका सबको ज्ञान है कि कपडे जुदा हैं और हम जुदा हैं। अज्ञानी जीव तो इस देहको ही मान लेता है कि यह मैं हू, पर ज्ञानी जीव इस देहसे भिन्न अपने आत्मस्वरूपको मानता है। और, ऐसा मान लेने का कारण यह है कि उन ज्ञानी सन्त पुरुषोंको अपने आपमें अनादि अनन्त विराजमान् एक शुद्ध चैतन्यस्वरूप अनुभवमे आया। मैं सबसे न्यारा केवल चित्प्रकाशमात्र हू ऐसा उनके अनुभवमें आया है जिसके बलसे वे देहसे भिन्न अपने आत्माको जानते हैं। अंतरङ्ग-में देहसे भिन्न आत्माके पहिचाने का पुरुषार्थ होना यह सबके बड़ा उत्कृष्ट कार्य है और यह गुप्त रूपसे होता है। यह उत्कृष्ट कार्य दिखाकर न बनेगा। किन्तु अपने आपमे अपने आपकी भावना करें तो होता है। जिसे अपने कल्याणकी चाह है वह ही अपने आपके आत्माकी इस तरह भावना करता है।

जैसे हर प्रकार के वस्त्र इस देहसे भिन्न हैं इसी तरह यह ज्ञानी जीव इस देहको भिन्न मानता है। व्यवहारसे यह देहमे स्थित है, पर यह आत्मा जुदा पदार्थ है। शरीर जुदा पदार्थ है और फिर यह जीव इस देहमे स्थित है। तो दो द्रव्योंका सम्बन्ध बताना व्यवहार है। तो जीव देहमें स्थित है ऐसा कहना व्यवहारनयका काम है। तो व्यवहारसे यद्यपि यह देहमें स्थित है तो भी यह परमात्मतत्त्व देहसे विलक्षण है और सहज शुद्ध परम आनन्द-रूप एक स्वभावको लिए हुए है। ऐसे निज परमात्माको हे योगी! तुम जानो। जिसे जिस बातकी लगन लग जाती है वह उस बातका हल निकाल ही लेता है। जिसको अपने आपके आत्माके शुद्ध स्वरूपमें निरखनेकी धुन लग गयी है वह अपने आपमें अपने आपको पा लेनेका उपाय बना ही लेता है। यह जीव सहज शुद्ध परमानन्द एकस्वभाव वाला है, ऐसा ही यह निज परमात्मतत्त्व ही, उसको तुम शरीरसे भिन्न जानों।

अभी देखो जिनसे अपनेको भिन्न मानते हैं उसमें कुछ भी परिणति हो उसकी परिणतिसे अपने आपको खेद नहीं होता है। सड़कपर कितने ही लोग आते जाते दिखते हैं किन्तु उनके किसी परिणमनसे अपनेको हर्ष विषाद नहीं होता क्योंकि यह प्रतीति लिए बैठे हैं कि वे सब तो पर हैं, मैं उनसे न्यारा हूं। इसी प्रकार यदि परिवारके लोगोंसे अपने आपके न्यारे-पनका विश्वास हो जाय और इस देहसे न्यारेपनका विश्वास हो जाय तो देहकी कुछ भी परिणति हो और अन्य जीवोंका कुछ भी परिणमन हो उससे

भी अपने चित्तमे विह्वलता न उत्पन्न करेंगे, ज्ञाता द्रष्टा रहेंगे, "हैं ये सब" ऐसा जाननहार रहेंगे। अब दुःखोंको उत्पन्न करने वाला जो देह है उस देहका घातक जो शत्रु है उसको भी तुम मित्र जानो, यह बात दिखाते हैं।

इहु तणु जीवउ तुज्झ रिउ दुक्खइ जेण जणेइ ।
सो परु ज णहि मित्त तुहु जो तणु एहु हणेइ ॥ १८२ ॥

हे जीव ! यह शरीर तेरा शत्रु है। यह शरीर दुःखों को उत्पन्न करता है। शरीर लगा है तो इसी से भूख लगती है, प्यास लगती है, सर्दी गर्मी लगती है और इस शरीरसे आत्मबुद्धि कर लेने पर तो फिर राग-द्वेषादिकके समस्त सकट चलते रहते हैं। तो यह देह इस मुझ आत्माका शत्रु है। जो कोई इस शत्रुको यदि नष्ट कर दे, इस शत्रुका घात करदे तो इस शत्रुका घात करने वाला पुरुष मेरा मित्र है। जैसे आपका किसी पुरुष से वैर हो गया और दूसरा पुरुष भी उससे वैर रखता है तो वह तुम्हारे लिए मित्र हो गया। जैसे आप किसी मित्रसे प्रेम करते हैं और उसी मित्र से दूसरा प्रेम रखे तो उसे भी मित्र मानते हो, इसी तरह किसी तुम्हारे शत्रुसे कोई दूसरा शत्रुता रखता हो तो उस दूसरे शत्रुता रखने वालेको भी अपना मित्र मानते हो।

हे जीव ! यह शरीर तो तेरा शत्रु है क्योंकि यह शरीर केवल दुःखोंको उत्पन्न करता है। तो ऐसे दुःखोंको उत्पन्न करने वाले इस शरीर का जो घात करे उसको तुम परम मित्र जानो। यह शरीर तेरा शत्रु होने से दुःख उत्पन्न करता है। अभी शरीर न लगा होता, खाली आत्मा होता तो फिर सिद्धमें और अपनेमें क्या फर्क रहा ? सिद्ध होना, इसका अर्थ यह है कि केवल बनना है, शरीरसे सर्वप्रपचों से मुक्त होना है। तो जितने भी क्लेश हैं वे सब इस शरीरके कारण हैं। जो इस शरीरका घात करता है उसको तो तुम परम मित्र जानो। यह शरीर तेरा शत्रु होनेसे दुःख उत्पन्न करता है। इससे तू अनुराग मत कर। जो तेरे शरीरके अनुकूल काम करता है उससे भी राग मत कर और जो शरीरका घात करदे उसको भी शत्रु न जान। यह शरीर तो तुझसे अत्यन्त भिन्न है।

भैया ! देखो मजेकी बात कि जगत्के जितने भी घिनावने पदार्थ हैं उन सब घिनावने पदार्थोंसे अत्यन्त घिनावना यह शरीर है। पर मोह ऐसा लगा है कि इस ओर दृष्टि नहीं डालते कि मैं देहसे जुदा हू। जुदाकी श्रद्धा हो जाय तो दुःख अवश्य कम हो जाते हैं। इस शरीरका जो शत्रु है शरीर को नष्ट करता है, वह तो मेरा वैरी नहीं है वह मेरा मित्र है। यहां यह

बात बतला रहे हैं कि जब द्रव्य देहका विनाश हो रहा है तब साधुको क्या करना चाहिए ? तब साधुको वीतराग चिदानन्दस्वरूप निज परमात्मतत्त्व की भावनासे उत्पन्न सुखरूपी अमृतको पीकर तृप्त होते हुए अथवा समता रसके परिणाममें ठहर कर जो शरीरका घात करने वाला है उस पर द्वेष नहीं करना चाहिये। जैसे पांडवोंने कौरवोंके कुमारों पर द्वेष नहीं किया।

महाभारतके समय कौरव वंशमें छोटे लड़के ही रह गए, कौरव वंश में जो बडे-बडे लोग थे मिट गए, नष्ट हो गए, कौरवोंके कुटुम्बमें छोटे लडके रह गए। तो जब पांडवोंको उन्होंने देखा कि ये खडे हुए हैं, तपस्या कर रहे हैं, तो सोचा कि इनकी तपस्याका भंग करनी चाहिए क्योंकि इन्होने हमारे दादा, बाबा इत्यादिको बरबाद कर दिया है। सोचा कि ये ढोंग करके खडे हो गए हैं। उन कुमारोंके चित्तमें दया न उत्पन्न हुई। उनके द्वेष हो गया। लोहे के गरम-गरम कडा कुण्डल उनको पहिना दिया। तिस पर भी उन पाण्डवोंने शरीरपर राग नहीं किया।

उन पाण्डवोंमें से सुनते हैं कि नकुल और सहदेव जो छोटे भाई थे वे अपने तीनों बडे भाइयोंके कष्टको देखकर विचलित हो गए उन दोनो छोटे भाइयोंके मनमें चिंतना हो गयी। ओह ! ऐसे वीर पुरुष, ऐसे ऊँचे राजघरानेके महापुरुष और कैसा शरीर जल रहा है ? ऐसा देखा न गया और मनमें इस प्रकारका विकल्प कर लिया। यद्यपि उस साधु अवस्थामें वे कुछ कर न सकते थे पर ऐसा भाव उनका आ जानेसे वे मोक्ष नहीं गए। वे सर्वार्थसिद्धि गए, सर्वार्थसिद्धिमें जाकर मनुष्यभवमें आए फिर मोक्ष गए। तो जब कोई वैरी देहका विनाश करता हो तो उस समय एक वीतराग चिदानद स्वभावी परमात्मतत्त्वकी भावना करे ऐसा साधुवोंको उपदेश है और उस परमात्मतत्त्वकी भावनासे उत्पन्न जो सुखामृत समता रस है उसमे स्थिति होकर शरीरका घात करने वाले पर द्वेष न करे। जैसे पांडवोंके शरीर पर घात किया कौरव कुमारोंने, फिर भी उन पाडव कुमारोंने उन पर द्वेष नहीं किया। और भी इसके उदाहरण हैं।

श्री गजकुमार मुनिके सिरके ऊपर अंगीठी उनके स्वसुरने ही जलायी थी, ऐसा उपसर्ग होने पर भी वे विचलित नहीं हुए। जो पुरुष अपने समता परिणाममें ठहरते हैं वे पुरुष परमेष्ठी हैं, धन्य है। ऐसे ही सुकुमार सुकौशल मुनि हुए हैं जिन पर सिंहनीने जो पूर्वभवमें उनकी मा थी, आक्रमण कर दिया। उसका मरण इस अपने बच्चे के शोकके कारण हुआ था। उसने समझ लिया था कि देखो पिता चले गए और बच्चा भी चला गया। सो बच्चे पर बहुत बड़ा क्रोध उसके था। इस ही संक्लेशसे

उसका मरण हुआ और मरकर सिंहनी हुई और जंगलमें तपस्या करते हुए सुकुमार सुकौशलको पंजे से मारकर घात कर दिया। तो जो जिसका लक्ष्य करके संक्लेश करता है और फिर मारता है तो वह ऐसे ही स्थान पर पहुंच कर जन्म लेता है कि वह दूसरेके द्वारा हना जाय। तो जैसे इन पूर्व तपस्वियोंने शरीरके घातकोंके ऊपर द्वेष नहीं किया इसी प्रकार अन्य तपस्वीजनोंको भी द्वेष न करना चाहिए। यह इसका अभिप्राय हुआ।

देखो अपनेको द्वेष उत्पन्न न हो इसके लिए चाहिए पर्याप्त स्वभाव की साधना, जिस स्वाभावकी साधनाके प्रतापसे द्वेष उत्पन्न नहीं होता है। अब देखो ये द्वेष ईर्ष्याके इस देहको जलाते रहते हैं। दूसरेका बुरा विचारनेसे कहीं दूसरेका बुरा नहीं हो जाता। दूसरेका बुरा विचारने वाले ने केवल अपध्यान किया। उस अपध्यानके फलमें वह नरक निगोदमें जन्म लेता है। कैसा है निगोद कि जिसमे कुछ चेत नहीं है। वे साधारण वनस्पति कहलाते हैं। जो शरीरका घात करते हैं वे तो मेरे मित्र हैं। यह बात बड़ी कठिनाईसे समझमें आती है, पर जिनका वैराग्यमें चित्त है और जिनके केवल आत्माके ही कल्याणकी धुन है वे जीव केवल अपने हितमें जो साधक हो उसके प्रति तो प्रेम करते हैं पर जो अपने हितमें बाधक हो उसके प्रति उपेक्षा करते हैं।

यहा यह बतला रहे हैं कि जो शरीरका घात करने वाला है उसे साधु मित्र मानते हैं वह कैसे कि शरीर है जीवका शत्रु, अहितकर। जीव का वह मित्र है जो जीवके शत्रुका घात करे। लोकव्यवहारमें भी जो अपने शत्रुसे वैर रखे और अपने शत्रुसे बदला लेनेका यत्न करे तो उससे मित्रता हो जाती है तो शरीरके घातक पुरुष पर भी शत्रुताकी कल्पना न करो। एक साधुकी ऐसी कथा है कि उन मुनि महाराजके कोई बहुत पहिले वे प्रेमी थे। किसी कारणसे उन्हें वियोगसे आर्तध्यान हुआ था। तो जब वे मुनि महाराज उसे कहीं मिले तो चक्कुवोंसे खालको नोच-नोचकर नमक छिड़का था। इस प्रकारका उपसर्ग उसने उस साधु पर किया था। जब वे साधु महाराज विरक्त हुए थे तो उनके पिताका उनके प्रति इतना प्रेम था कि छिपे छिपे सैनिक लोग उनके आगे पीछे लगाये रहते थे ताकि किसी भी प्रकारका उपसर्ग उनपर कोई कर न सके। पर जब उपसर्गका, उपद्रवका समय आया तो कोई भी सैनिक उन साधुमहाराजको देखने वाला न था। इस प्रकारका उपसर्ग उन पर हुआ। पर वे पुरुष धन्य हैं जो ज्ञानरसके रसिक हैं। जिन्हें केवल ज्ञानरस ही सुहाया, उन्होंने उपसर्ग डालने वाले जीवोंको अपना शत्रु नहीं माना। अब यह बतलाते हैं कि

पाप कर्म उदयमे आए तो भी अपना स्वभाव न छोड़ना चाहिए।

उदयलँ आणिवि कम्मु मइँ जो भुजेवउ होइ।
तं सइ आविउ खविउ मइँ मो पर लाहु जि कोई ॥१८३॥

जिन कर्मोको मैं अपने उदयमे भोगना चाहता था वे कर्म स्वयं ही उदयमें आये हैं, ऐसा जानकर वे साधु पुरुष शांत चित्त होकर उन कर्मोका क्षय करते हैं।

जिन महात्मा पुरुषोंके विशिष्ट आत्मभावना का वल होता है उन्हें उस वलके कारण आगे उदयमें आने वाले कर्मोको शीघ्र ही उदयमें लेकर नष्ट कर देते हैं और जो उदयमें आते हैं कर्म उनके प्रति यह ज्ञानी सोचता है कि जो कर्म मुझे उदयमें लाकर खिराने चाहियें थे वे कर्म अव स्वय ही सामने आ गए तो मैं उनका फल सहन करके शांत भावसे रहकर क्षय करूंगा, यह तो वडे लाभकी वात है। जैसे किसीको कर्जा देना हैं, उसके मनमें यह परिणाम आया कि आज अमुक के घर जाऊँ और अपना कर्जा चुका लाऊँ। और वह जानेकी तैयारीमे था। वही आदमी जिसको कर्जा चुकाना था उसी समय आ गया तो वह कितना खुश होता है कि वहां जाने के श्रमसे वच गए। वह कर्जा चुकाने वाला स्वमेव ही उसके घर आ गया। इसी तरह ये कर्म आए हैं स्वय उदयमें बड़े दुर्धर परिसह और उपसर्गके द्वारा कर्म आए हैं तो अव मुझे समतारसका स्वाद लेते हुए उनका क्षय करना चाहिए।

निज जो परमात्मतत्त्व है उस अपने परमात्मतत्त्वकी भावनासे उत्पन्न हुआ जो रागद्वेष रहित स्वाभाविक आनन्द है उस एक सुखरसके स्वादसे जो आल्हाद हुआ वह मेरे द्वारा उनके क्षय करनेसे हुआ। यह वड़े लाभकी वात है कि वे कर्म स्वयं ही मेरे समक्ष आ गए। जो कोई भी महापुरुष हुए हैं वे वडे दुर्धर अनुष्ठानको करके वीतराग निर्विकल्प स्वसम्वेदनमें स्थित होकर कर्मोके उदयको लाकर उसका अनुभवन करते हैं। फिर हमारे लिए वे कर्म स्वयं ही उदयमें आ गए, ऐसा मानकर विवेकी जनोंको संतोष करना चाहिए।

अव यह वतलाते हैं कि कोई कठोर वचन नहीं सह सकता है, सहा नहीं जाता है तो उस समय निर्विकल्प आत्मतत्त्वकी भावना करना चाहिए। कोई पुरुष यदि कठोर वचन वोलता है तो उसके दुःखको मेटने की औषधि एक है कि अपने आपके अन्दरमें उपयोग द्वारा घुसकर अपने निर्विकल्प सहजचैतन्यस्वरूपका अवलोकन करना चाहिए। उसको हम उत्तर दें और उससे हम विजय पाना चाहें तो नहीं पा सकते हैं। हम उत्तर

देंगे तो वह भी उत्तर देगा इस प्रकारसे बात और बढ़ती जायगी। तो दिव्य पुरुष क्या करते हैं कि दूसरेके कठोर वचनोंको सुनकर अपने आपमें अपने शुद्ध ज्ञायकस्वरूपका अनुभव करते हैं।

णिट्ठुर वयणु सुणेवि जिय जइ मणि सहण ण जाइ।
तो लहु भावहि बंभु परु जिं मणु झत्ति विलाइ ॥१८४॥

हे जीव! निष्ठुर वचनको सुनकर यदि वह सहा न जा सके तो कषाय दूर करने के लिए इस परम ब्रह्म स्वरूप की अपने मनमें शीघ्र भावना करनी चाहिए। जो ब्रह्म अनन्त है, अनन्त ज्ञान आदिक गुणोंका भण्डार है, सर्वोत्कृष्ट है, उसका ध्यान करनेसे ये मनके विकार शीघ्र ही विलीन हो जाते हैं। बड़ी हिम्मतकी बात है कि कोई दुर्वचन बोलता हो और यह अपने आपमें अपने स्वभावकी दृष्टि रखनेका यत्न करता हो, यह बड़ी अपूर्व हिम्मतकी बात है। हे हितैषी जीव! तू हृदयको भेदनेके लिए शस्त्रकी तरह जो वचन हैं कर्णवेधी ऐसे निष्ठुर वचन सुननेके अनन्तर ही तुम निर्विकल्प समाधिमें स्थित होकर अपने देहमें रहने वाले परमात्मतत्त्व की भावना करो। अपने आपपर वस चल सकता है, दूसरे पर नहीं चल सकता है। कोई विपत्ति आए, कोई निष्ठुर वचन कहे तो उसका उपाय एकमात्र यह ही है कि अपने देहमें विराजमान् अनादि अनन्त अहेतुक इस परमात्मतत्त्वका ध्यान करो।

यह परमात्मतत्त्व कैसा है? उत्कृष्ट है। उत्कृष्ट अनन्त ज्ञानादि गुणों का आधारभूत है। परम उत्कृष्ट है। जिस परमात्माके ध्यानसे क्या होता है कि यह मन शीघ्र विलीन हो जाता है। कैसे विलीन हो जाता है कि वीतराग निर्विकल्प स्वसम्वेदनसे उत्पन्न हुआ जो परम आनन्दरूप सुख है वही हुआ परम अमृत, इस स्वादको लेते हुए अनुभव करते हुए की स्थिति में यह मन विकल्पजालोंको तोड़कर विलीन हो जाता है, एक ही औषधि है सकटोंके मिटानेकी। किसी भी प्रकारका सकट आए, एक अपने आपके सहजस्वरूपके अनुभवकी कोशिश करने लगें, अपने आपमें अपने आपको देखने लगे। बाहरमें कहीं कोई कुछ कह रहा हो उसका प्रभाव न आए, ऐसा बल विवेकी पुरुषमें निज परमात्मतत्त्वकी भावनाके बलसे होता है। अब यह निश्चय करते हैं कि यह जीव कर्मोंके वशसे भिन्न-भिन्न जातिके भेदसे भिन्न-भिन्न हो जाता है।

लोउ विलक्खणु कम्मवसु इत्थु भवंतरि एइ।
चुज्जु कि जइ इहु अप्पि ठिउ इत्थु जि भविण पडेइ ॥ १८५॥

विलक्षण है लोक अर्थात् जीवोंका समूह जो नाना जातियोंमें

बैठा हुआ है वह कर्मवश होकर इस संसारमें अनेक जातियोंको धारण करता है। यह जीव आत्मस्वरूपमें लगे तो इस भवमें न भ्रमण करेगा, इसमें क्या कुछ आश्चर्य है ? कुछ नहीं। यह समस्त जीवलोक जो आंखो दिखता है यह सब परमात्मस्वरूपसे विलक्षण है। क्या हो रहा है ? कितनी विचित्र स्थितिया हैं इस जीवकी कि सब स्थितियोंमें यद्यपि वह परमब्रह्म जीवस्वरूप एकस्वरूप विराजमान् रहता है तो भी उस अपने आपमें विराजमान् एक स्वरूप निज ब्रह्मको न पहिचानकर नाना विह्वलताएँ हो रही हैं और जगह जगह यह जन्म मरण करता फिर रहा है। यह जीव स्वभावसे केवल ज्ञानस्वरूप है और वह केवलज्ञान अत्यन्त स्वच्छ है। जैसे सोलह बार तपाये हुए स्वर्णमें अत्यन्त स्वच्छता रहती है, स्वर्णत्व घन रहता है, उसमें विजातीय भाव नहीं पाया जाता है। इसी प्रकार यह परमात्मतत्त्व एक स्वरूप है और वह सर्व जीवराशिमें सदृश है। स्वभावदृष्टिसे जो मैं हू वह प्रभु है। जो प्रभु है वह मैं हू। स्वभावदृष्टि करने वाला अपनेमें और प्रभुमें भेद नहीं जानता। और ऐसी ही अभेदवृत्तिसे वह बहुत स्थिर रहकर अनुभवन करता है तो सर्वविकल्पोंको छोड़कर निर्विकल्प परमसमाधिका अनुभवन करता है।

ये समस्त जीव राशिया जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि जातिके भेदसे नाना प्रकारके दिख रहे हैं वे कर्मवश हैं। आत्माका स्वभाव तो कर्मरहित है। शुद्ध ज्ञानस्वरूपका अनुभवनमात्र है, पर उसकी जब भावना नहीं रहती है तब कर्मोंका जो उपार्जन होता है उन कर्मोंके आधीन होकर, कर्मवश होकर यह यहा ही पचप्रकारके भवांतरोंमे, ससारमे डोलता है। इस आत्माका स्वभाव तो परिवर्तनोंसे रहित है, वीतराग परम आनन्दस्वरूप है। शुद्ध आत्मद्रव्य है। केवल अपनी ओरसे अपने आप ज्ञाता द्रष्टाकी परिणति करता है। पर उससे विलक्षण इस भवांतरसे ससारकी यह वृत्ति होती है। इसमे क्या कुछ आश्चर्य है ? कुछ भी आश्चर्य नहीं है। किन्तु जब यह जीव अपने शुद्ध आत्मस्वरूपमें उन्मुख होता है, वहां ही स्थिर होता है, लीन होता है तो फिर वह इस भवमें नहीं गिरता है।

इस दोहेसे यह शिक्षा लेनी है कि जो ससारके भयसे भीत है, जो संसारमें रुलना नहीं चाहता जिसको नरक, निगोद आदिकी गतिया इष्ट नहीं हैं उस पुरुषको मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद कषाय और योग इन ५ प्रकारके आश्रवोंको छोड़कर ऐसे परमात्मस्वरूपमें स्थित होना चाहिए जो परमात्मस्वरूप द्रव्याश्रय और भावाश्रयसे रहित है उस परमात्मभावमें

स्थित होकर निरन्तर निज शुद्ध ज्ञानमय आत्मतत्त्वकी भावना करनी चाहिए। भावनाका भाव यह है कि अपने आपको अधिकतर ऐसा ही विचार करें कि मैं शुद्ध चैतन्यस्वरूप हू, मैं अन्यरूप नहीं हू, मैं किसी परका कर्ता नहीं हू, मैं केवल आत्मस्वरूप हू, ऐसे परमात्मभावमें स्थित होकर निज शुद्ध आत्मतत्त्वकी भावना करना ही साधुका मुख्य कर्तव्य है।

अब यहा यह बतला रहे हैं कि देखो भाई दूसरा मनुष्य यदि दोष ग्रहण करता है, दूसरा कोई दोष देता है तो उसपर कोप न करना चाहिए। उस समय यह भावना करनी होती है कि स्थूल दृष्टिसे उदय ही इस प्रकार का दोषमय है। ऐसा जानकर दोष ग्रहण करने वाले पर क्रोध नहीं आता है और अधिकतर ऐसा ही यत्न करना कि दूसरेकी कुछ कठोर बातको सुनकर भी अपना यत्न यह हो कि अपना सहज जो निर्विकल्प चैतन्य स्वरूप है, अपने आपके सत्त्वके कारण जो अपना शुद्ध ज्ञायकस्वभाव है उस रूप भावना भानेका यत्न करना चाहिए। इसी बातको अब इस दोहे में कहते हैं।

अवगुणगहणइँ महुतणइँ जइ जीवहँ संतोसु।
तो तहँ सोक्खहँ हेउ हउँ इउ मण्णिवि चइ रोसु ॥१८६॥

मेरे अवगुण ग्रहण करने से यदि किसी जीवको सतोष होता है तो मैं यही तो लाभ मानता हू कि मैं दूसरे जीवोंके सुखका कारण तो बना। ऐसा ही मनमें विचार करो। मैं दूसरेके सुखका कारण तो बन गया। सो ऐसा मानकर कर गुस्साको दूर करो। कोई जीव धन खर्च करके दूसरोंको सुखी करता है, कोई जीव अपनी ओरसे सेवा करके शरीरकी खुशामद करके दूसरेको सुखी करता है तो कोई जीव मेरेको लक्ष्यमें लेकर गाली देकर खुश होता है तो मैं आज उसके सुखका कारण तो बना—ऐसा जान कर रोष न करो। किसीके निष्ठुर वचन सुनकर, गाली भरी बात सुनकर अपनेको क्या-क्या करना चाहिए, उसका आज प्रकरण है।

पहिली बात तो यह है उत्कृष्ट कि यदि कोई गाली गलौजका निष्ठुर वचन बोलता है तब यदि तुम्हारे अंतरंगमें बल है तो उस समय अपने आपका जो शुद्धस्वरूप है अर्थात् मैं स्वयं अपने आप जैसा चैतन्य प्रकाश-मात्र हू, ज्ञानमात्र हू, केवल जाननहार हू, ऐसे अपने स्वरूपको ध्यानमें ले। उससे कितनी बातें बनेंगी? वह अपने आपमें ही अपना परिणमन करता है। इस मुझ आत्मामें उसका कोई दखल नहीं है। वह अपने आप में ही अपना परिणमन करके समाप्त हो गया है। मैं अपने आपमे शुद्ध चैतन्यप्रकाश मात्र हू।

दूसरी बात यह है कि यदि वह गाली देकर सुखी होता है तो उससे मेरा बिगाड़ क्या ? बल्कि यह बात अच्छी हुई कि जो मैं उसके सुखका कारण तो बना। तो ऐसा मानकर रोष न करना चाहिए और भी रिलसिलेसे सुनिए। कोई कोई परोपकारी पुरुष दूसरेको द्रव्य देकर सुखी करते हैं और मैंने कोई द्रव्य नहीं लगाया फिर भी सुखी हो गया। मुझे कोई गाली देकर सुखी होता है तो इसका उपकार ही हुआ ऐसा ही जानकर उसपर रोष न करो। यद्यपि इस प्रसगमे ऐसी बात है कि कोई क्षोभ न हो तो ऐसा सोचनेका ख्याल रहे और ऐसा सोचनेका ख्याल रहे तो कोई क्षोभ न हो तब बात कैसे बने ? तो थोड़ा-थोड़ा दोनो ओरकी बात है। कषाय भी कम करो, थोड़ा विचार भी करो। फिर परस्परका निमित्त होने थोड़ाके कारण हितबुद्धिमें भी सहयोग मिलेगा और वह काम बनेगा।

तीसरी बात- जिसने मेरा दोष ग्रहण किया है उसके प्रति यह विचारो कि उसने मेरे गुण तो नहीं ग्रहण किया याने गुण तो नहीं छीना, किन्तु उसने मेरे दोष ही छीने। ऐसा जानकर उस दोष ग्रहण करने वाले पर क्रोध न करना चाहिए। चौथी बात और भी देखिए—जिसने मेरा कोई दोष कहा और मुझमें ऐसा दोष है तो उसका वचन सत्य है, उसके कहनेका क्या बुरा मानें ? ऐसा ही जान करके क्रोध करना छोड़ दो। पाचवीं बात—यदि मेरेमें यह दोष नही है तो उसके वचनोंसे क्या मै दोषी हो जाता हूं ? मैं ही दोषी हूं तो मैं अपने लिए अकल्याणरूप हूं। मैं यदि दोषी नहीं हू तो मैं मेरे लिए अकल्याणरूप नहीं हू। कोई कुछ कहे, उनका कहना, उनका प्रयत्न उनके ही आत्मामें समाप्त हो जाता है।

अथवा छठी बात कोई पुरुष मेरे परोक्षमें दोष ग्रहण कर रहा है, परोक्षमें बहुतसे दोष बखान रहा है तो उसने परोक्षमें ही तो दोष ग्रहण किया। मुझ पर इतनी कृपा रखो कि यह मेरे सामने तो नहीं कह रहा है। इतनी तो गनीमत है। वह परोक्षमें कुछ भी करता हो तो वह बेचारा अपना ही तो श्रम करता है, ऐसा समझ कर उस पर क्षमा करना चाहिए। सातवीं बात—जो पुरुष दोष कह रहा है उस पुरुषने वचन मात्रसे दोषवाद ही तो ग्रहण किया। मेरे शरीरमें कोई बाधा तो उसने नहीं दी। न डडोंसे मुझको मारा। वह तो अपनी ही जगह खड़ा है, वह तो मेरे पास भी नहीं आया, ऐसा जानकर उसको क्षमा करना चाहिए।

अब आठवीं बात सुनिये—कोई पुरुष शरीर पर बाधा भी कर दे तो यह सोचना चाहिए कि यह शरीरको कुछ पीट ही तो रहा है, प्राणोंका विनाश तो नहीं कर रहा है। ऐसा ही जानकर क्षमा करना चाहिए।

अथवा अतर्की बात देखो—कोई मनुष्य मेरे प्राणोंका विनाश भी करता है तो भैया ! वह प्राणोंका विनाश ही तो करता है। मेरी रत्नत्रय भावनाका विनाश तो नहीं करता है। मेरा जो कल्याण पथ है, समताकी परिणति है उसको तो हमसे नहीं छीन पाता है। भेद रत्नत्रय और अभेद रत्नत्रयकी भावनाका विनाश तो नहीं करता ऐसा जानकर सर्व तत्परताके साथ, अपने समस्त प्रयत्नोंके साथ प्रत्येक जीवको क्षमा ही करना चाहिए।

सर्व प्रकारकी चिंता छोड़ना ही चाहिए जिन्हें शांति चाहिए, इस बातका वर्णन इस दोहेमें कर रहे हैं।

जोइय चिंति म किंपि तुहु जइ बीहउ दुक्खस्स।
तिलतुसमित्तु वि सल्लडा वेयण करइ अवस्स ॥१८७॥

हे योगी ! तू यदि दुःखोंसे घिर गया है तो तू कुछ भी चिंता मत कर तिलके भूसेके बराबर भी शल्य होगी तो वह वेदनाको ही करती है। अब सर्व प्रकारकी चिंताएँ न रहें इसका उपाय क्या है ? जब ऐसी स्थिति है कि कुछ धधा भी चाहिए। घरके सब काम भी करने पड़ते हैं, सर्वप्रकार की धोखेबाजियां छायी हुई हैं, उनसे भी परेशानी हो जाती है, सबकी कषाय जुदा जुदा है, किस किसकी कषायको सभालते फिरें। बहुत कठिन बात है। अब ऐसी स्थितिमें चिंता न करें तो ऐसे में भी कुछ औषधि है क्या ? उसकी औषधि ऋषि संतोंने एक ही बतायी है वह है भेदविज्ञानका हृढ़ करके किसी भी क्षण इतना अपने आपको सतर्क करले कि यह मैं आत्मा सबसे निराला हूं। इसका किसीसे रंच सम्बन्ध नहीं। यह अकेला था, अकेला रहेगा, अकेला ही परिणमता है, ऐसा अपने आपके अकेलेपन का ध्यान हो जाय तो उस क्षण तो सब चिंताएँ दूर हो ही गई।

भैया ! क्या दुःख है ? इच्छा विरुद्ध किसी परपदार्थके परिणमने का ही तो दुःख है। और दुःख क्या है, अमुक यों नहीं हुआ। नहीं हुआ न सही, इतना साहस बना लें तो दुःख कम हो जाय। इस लड़के ने ऐसा क्यों नहीं किया ? दुःख क्यों माना कि उस लड़के पर तुम अपना स्वामित्व मानते हो। यह मेरा बच्चा है फिर भी ऐसा नहीं चलता है। तो जरा सम्यग्दृष्टि करिये कि प्रत्येक पदार्थ अपनी-अपनी सत्ता रखते हैं, वह बालक भी अपनी सत्ता रखता है। उसने जो कुछ अपनेमें किया उसने अपने कषायके अनुकूल परिणमन किया। सच्ची दृष्टि बनाली जाय तो अभी क्षोभ कम हो जायेगा और कदाचित् बहुत-बहुत कोई उल्टा चले, कोई परिवारका व्यक्ति बहुत समझाये जाने पर भी उल्टा चले तो तुम अपनी हिम्मत बनावो, अथवा सबसे उपेक्षा करके त्यागमार्गमें आवो। सो अपने

करने योग्य जो काम है उसे करना नहीं चाहते और दूसरे जीवोंपर स्वामित्व बुद्धि करके सक्लेश कर रहे हैं।

सर्व दुःखोंके नष्ट होनेकी एक ही औषधि यह है कि सबसे न्यारे केवल ज्ञानस्वरूप अपने आत्माको अनुभवमें उतारो। यह औषधि किए बिना बाहरी कितने ही उपाय बना लो पर सफलता नहीं मिल सकती। तो हे योगी! तू यदि दु:खोंसे डर गया है तो रंच भी चिंता मत कर। जगत्में कितने ही प्रकारके दुःसह दु:ख हैं जो सहे नहीं जा सकते। उसका कारण यह है कि यह सारा जगत् परदृष्टिकी नींवपर बना हुआ है। जरा अपने आपके आत्माके स्वरूपको देखो—यह अविकार शुद्ध ज्ञायकस्वरूप है। स्वभावकी दृष्टिसे देखो। वर्तमानमें यह कैसा परिणम रहा है, इतनी दृष्टि को गौण करके इस आत्माका स्वभाव कैसा है? इस पर निगाह करके अपने ज्ञान तदस्वरूप निराकुल ऐसा स्वभाव है पर जैसी ही भूल की अपने आपमें संतोष न पाकर, जैसे ही बाहरकी ओर दृष्टि की कि बस उसको अशांति उत्पन्न हो जाती है।

पारमार्थिक निश्चय सुखके प्रतिपक्षभूत जो नारक आदिक दु:ख हैं उन दु:खोंसे कुछ डरते हो तो हे योगी! तुम रंच चिंता मत करो। तिल के तुसके बराबर भी यदि शल्य होगा? तो वह बाधा को अवश्य करेगी। तब अपना चिंतारहित स्वरूप देखकर और ऐसे अपने निर्दोष स्वरूपसे विपरीत विषय कषाय आदिककी चिंतावोंको छोड़कर उन समस्त चिंताओं को छोड़ देना चाहिए। जैसे किसी बाणका रंच मात्र भी प्रवेश दु:खका कारण है इसी तरहसे किसी प्रकारकी चिंता शल्य भी दुःखका कारण है। जैसे शरीरमें कोई कांटा चुभ जाय तो शल्य रहती है। इतना बड़ा तो शरीर और पैरमें छोटासा कांटा चुभ जाय, जो मुश्किलसे भी आंखों दिखे तो भी कितनी वेदना होती है। ऐसे ही जिसके चित्तमें किसी भी प्रकारकी शल्य हो, चिंता हो, ममता हो तो उसको दु:ख ही होना है।

मोक्खु म चिंतहि जोइया मोक्खु ण चिंतिउ होइ।
जेण णिबद्धउ जीवडउ मोक्खु करेसइ सोइ ॥१८८॥

हे योगी! अन्य चिंताकी तो बात क्या? मोक्षकी भी चिंता मत करो। किसको कह रहे हैं? जिसको सर्वचिंतावोंके छोड़नेकी बात होती है उसे कह रहे हैं। जो साधु पुरुष घर त्यागकर आत्मसाधनाके लिए उद्यत हैं उनको कह रहे हैं कि तू इस ज्ञानस्वरूपको निहार-निहारकर तृप्त रह, सुखी रह। ऐसी भी चिंता मत कर कि मेरे कर्म छूटें और मोक्ष मिले। अरे कर्म तो छूटेंगे ही और मोक्ष तो मिलेगा ही। मोक्ष प्रार्थनासे नहीं

मिलता है। मोक्ष तो करनीसे मिलता है। जैसी करनी करने से मोक्ष प्राप्त होता है वैसी करनी करो तो मोक्ष मिलेगा, प्रार्थनासे मोक्ष नहीं प्राप्त होता है। चिंता करनेसे मोक्ष नहीं होता है। चिंता तो चिंताकी इच्छाके त्यागसे ही होता है। रागादिक समस्त चिंताओंसे रहित केवल ज्ञानादिक अनन्त गुणोंकी प्रवर्तना सहित जो मोक्ष है, वह मोक्ष चिंताके त्यागसे ही होता है।

जिन मिथ्यात्व आदिक चिंता समूहसे कर्मोत्पत्ति होती है जिनसे यह जीव बँधा है उन कर्मोंको वही जीव दूर करेगा। जो समस्त कर्मोंके विकल्पोंसे रहित जो शुद्ध एक ज्ञायकस्वरूप है, उस स्वरूपमें जो स्थित हैं ऐसे परम योगीश्वरोंको मोक्ष मिलता है। प्रार्थनासे चिंतासे मोक्ष नहीं मिलता है। मोक्षका ध्येय सबका होना चाहिए। चाहे साधु हो और चाहे गृहस्थ हो, इस जगतमें रुल-रुल करके तो कुछ नफा न मिलेगा। एक शरीर पाया, उसको छोड़ा, दूसरा शरीर पाया। इस तरह शरीरके छोड़ने से और नये शरीरके पानेसे कुछ लाभ न मिलेगा। आज मनुष्य हैं, कल और कुछ हुए, फिर और कुछ हुए, इस तरहसे बनते, बिगड़ते आज तक चला आया है। अच्छा परिवार मान लो आज मिल गया तो क्या हो गया? क्या सदा रहेगा? धन सम्पत्ति आज मिल गए तो क्या हो गया? क्या धन सम्पत्ति सदा रहेंगे? अपने आपके कल्याणके लिए कुछ महत्व पूर्ण विचार करना चाहिए। मोह ममतासे तो बिगाड़ ही होगा।

भैया! महाव्रत लेनेका सामर्थ्य नहीं है तो घरमें रहो, घर छोड़ने की बात नहीं कही जा रही है और मोह ममता छूट सके तो बहुत ही अच्छी बात है। घरमें रहो, पर सत्य-सत्य समझलो तो घरमें रहकर भी कुछ फर्क नहीं पड़ा। घर गृहस्थी तो जब तक बनी है तब तक बनी है, मोह करें तो, न करें तो। ऐसा तो नहीं है कि बच्चेसे मोह करें तो वह दुबला न होगा और मोह न करें तो वह दुबला हो जायेगा। अरे उसे दुबला होना है तो वह दुबला हो ही जायेगा, उसे आप मस्त नहीं कर सकते। जो है उसके जाननहार रहो और यह जानते रहो कि मेरा स्वरूप मेरेमें है और परका स्वरूप परमें है। ऐसा देखते रहो, तो घरमें रहो तो भी मोक्षमार्ग तुम्हें मिलता रहेगा।

यदि ममता न छोड़ी, ममता बनाए रहे तो उस ममताके होनेके कारण आपका दूसरेके प्रति ऐसा व्यवहार होगा, जो कभी अनबन हो जायेगी। घर विशेष ममताके कारण विचित्र हो जायेगा, कभी दुःखमय वातावरण छा जायेगा। तो घरमें भी सुख न मिला और मोक्षका मार्ग

भी गया। खूब सोचलो ध्यानसे। खुदके करनेकी बात तो खुदमें करने बात है। किसीको दिखाकर करने की नहीं है। अपने मनमें सोचो और देखलो खूब कि, ममत्व करनेसे, परवस्तुमें अहं बुद्धि करनेसे कोई बात पूरी नहीं पड़ सकती है। सो उन परमयोगीश्वरोंको यह शुद्ध आत्मस्वरूप का श्रद्धान, ज्ञान और आचरण करनेसे मुक्ति होगी। यह मोक्ष क्या चिन्ता करनेसे होगा? मोक्षका तो स्वरूप चिंतावोंसे रहित है। चिंता-रहित पद कहीं चिंता करनेसे मिल सकता है? चिंतावोंसे तो चिंताएँ ही मिलेंगी। इसलिए चिंतारहित मोक्षको पाना हो तो चिंतावोंको दूर करो।

भैया! बैठे ही बैठे अपना दुःख चौगुना भी बढाया जा सकता है और अपना दुःख आधा भी किया जा सकता है। यह सब हमारे ज्ञानकी तारीफ है। ऐसी कल्पना करने लगे जो मोह और ममता बढ़ाने वाली हैं तो जो हमें थोड़ासा भी दुःख है वह भी अठगुना कर डालेंगे। एक महसूस करने से ही तो आत्माका स्वरूप बनता है। ममता होनेसे दुःख महसूस होता है, और घरके लोगोंसे, पड़ौसके लोगोंसे दुःखोंका निवारण भी नहीं किया जा सकता है। ऐसे भी दुःखमें अगर ज्ञानभावना बनाएँ, अपना ज्ञान सही बनाएँ तो समझो कि दुःख दूर हो गया। दुःख दूर दूसरेकी प्रार्थनासे नहीं होना। दुःखका दूर होना किन्हीं पर-उपायोंसे नहीं होता। दुःख दूर होगा तो अपने आपके उपयोगको शुद्ध करने से होगा। ऐसा सही निर्णय बनाए रहो।

उदय पुण्यकर है तो लक्ष्मी आंगनमें बरषती है, पर लक्ष्मीमे यदि ममता परिणाम कर लिया तो पुण्य भी खत्म कर डालोगे। पुण्य न ठहर सकेगा। इस कारण प्रत्येक परिस्थितिमे ज्ञानका सही बनाए रहना अत्यन्त-आवश्यक है। इस जीवको ज्ञान के सिवाय अन्य कुछ शरण नहीं है। यह मोक्ष जिसमें केवल ज्ञानादि अनन्तगुणोंका जो प्रकाश है, रागादिक समस्त दोषोंका जहां अभाव है ऐसा मोक्ष, मोक्षकी मांगसे नहीं मिलता; किन्तु निर्दोष ज्ञानस्वरूप जो निज आत्मतत्त्व है उसकी दृष्टिसे स्वयमेव मोक्ष मिलता है। मोक्षकी करनी करे तो मोक्ष मिलेगा और मोक्ष प्रार्थना करके न मिलेगा।

यद्यपि गृहस्थोंको इस पदवीमें मोक्षकी मांग भी धर्म है। सबकी जुदा-जुदा परिस्थितियां होती हैं। जहां पर गृहस्थीमें सैकड़ों फिसाद लगे हुए हैं, राग और चिंतावोंसे मन व्यग्र बना रहता है, ऐसी स्थिति वाले गृहस्थ जनोंको मोक्षकी इच्छा होना अच्छी बात है। पर गृहस्थ भी यह जान ले

कि है तो इस समय अच्छी बात, मगर मोक्षकी भाग वाली स्थितिसे भी आगे जब हम बढेंगे तब मोक्ष होगा। तो ऐसा यह मोक्षपद अपनी करतूत से मिलता है। अपने ज्ञानको यथार्थ बनाए रहना यह, सबसे महान् पुरुषार्थ है। कभी धन कम हो जाय, हो जाने दो, चिंता मत करो। कोई बिगाड़ हो जाय हो जाने दो, कुछ चिंता मत करो। दुःखों का उदय आता है और इन दुःखोंका उदय आता है तो संकट होता है। यह सारा संसार संकटोंसे भरा है। कहा बचकर जाओगे? उदय आता होगा तो आपको यदि इस तरह संकट न मिलता तो और तरह का मिलता। जो कमाये हुए कर्म हैं वे तो उदयमें आयेंगे ही। किसी तरह उदय आये, कहीं उदय आए, उसके ज्ञाता द्रष्टा रहो, कितनी ही विपत्ति आए, पर समतापरिणाम छोड़ना यह अपना कर्तव्य नहीं है।

यद्यपि सविकल्प अवस्थामें गृहस्थकी पदवीमें मोक्षकी इच्छा करना अच्छा है क्योंकि उनको विषय कषाय आदिके अपध्यान बहुत लगे हैं। उन अपध्यानोंसे बचने के लिए और मोक्षमार्गकी भावना दृढ़ करने के लिए ये सब भावनाएँ करना अच्छा है कि मेरे दुःखोंका क्षय हो, मेरे कर्मोंका विनाश हो, मुझे रत्नत्रयकी प्राप्ति हो, मेरा सुगतिमें गमन हो, समाधि मरण हो, जिनेन्द्र गुण मुझमें प्रकट हो, मोक्ष हो, ये सब भावनाए करना चाहिए, किन्तु यह भी ध्यानमें रहना चाहिए कि मैं इन उपायोंसे मोक्षमें बढ़ूंगा तो वह बढ़कर जब हमारी समताकी विशेष स्थिति होती जायगी, वहां मोक्षकी भी इच्छा दूर होगी, नष्ट होगी तो मोक्ष मिलेगा। वीतराग निर्विकल्प परमसमाधि के कालमें फिर ये सब भावनाएं नहीं रहती हैं। केवल शुद्ध ज्ञानस्वरूपका अनुभव रहता है। अब परमसमाधि क्या चीज है? उस स्थितिका वर्णन प्रारम्भ करते हैं।

परमसमाहि महासरहिं जे बुड्ढहिं पइसेवि।
अप्पा थक्कइ विमलु तहं भवमल जंति वहेवि ॥ १८६ ॥

जो कोई मनुष्य परम समाधिरूप महान् सरोवरमें मग्न होता है, सर्व आत्माके प्रदेशोंसे अपने आपमें अपने आपको मग्न करता हुआ रहता है, ऐसा आत्मा अपने चिदानन्दस्वरूप अखण्ड आत्मतत्त्वमें स्थिर होता है। जो आत्मा द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्मसे रहित है, अत्यन्त निर्मल है उसी पुरुषके यह मल दूर हो जाता है। यहां वीतराग परमसमाधि स्वरूप न कहकर पहिला क्रम बनाया है ताकि ऐसा संस्कार जगे कि श्रोतागणोंको रुचि हो कि सारा झगड़ा छोड़ना चाहिए, और एक आत्माके समता परिणामका आश्रय लेना चाहिए। गम खानेमें, क्षमा करनेमें बहुत गुण

हैं। सुख शांति तो समतासे ही मिलती है। जिसका ज्ञान निर्मल रहता है वह समतासे चूकता नहीं है, और कदाचित् चूक जाय तो फिर जल्दीसे समतामें आ जाता है।

जो पुरुष इस समाधि समताके महान् सरोवरमें खूब अवगाह करके अपने सर्व आत्मप्रदेशोंसे सबमें डूब करके जो परमात्मारूप ठहर जाते हैं निर्मल होकर उन समाधिरत पुरुषोंके संसारके संकट सब दूर हो जाते हैं। क्या चाहिये तुम्हें ? हे जीव, हे आत्मन्, सोचो तुम्हें क्या चाहिए ? जो इच्छा होगी वह चीज मिल जायगी, तब भी संतोष न होगा। जिस चीजको बीसों वर्षोंसे खाते पीते चले आ रहे हैं उसीकी ही इच्छा नहीं मिट रही है, तो इच्छाके करनेसे कहीं इच्छाकी पूर्ति हो सकती है क्या ? नहीं हो सकती है। इच्छाका अभाव करनेसे निर्मल समताका परिणाम प्रकट होता है।

भैया ! जहां न तो कर्मोंका मल रहता है, न शरीरका मल रहता है और न मति आदिक विभाव गुण रहते हैं और न मनुष्य तिर्यञ्च आदिक पर्यायें रहती हैं, ऐसा ही वह मोक्षपद है, सर्व प्रकारसे शुद्ध है, किसी भी प्रकारका मल नहीं है। उस भावमलके कारणभूत जितने भी कर्म हैं, जो निज शुद्ध आत्मस्वरूपसे विलक्षण हैं, वे सर्व कर्म दूर हो जाते हैं। कैसे दूर हो जाते हैं ? जैसे काठ पर लगी हुई धूल पानीमें बहा देनेसे बिल्कुल दूर हो जाती है इसी प्रकार शुद्ध आत्माकी भावनाके उत्कृष्टपरिणामरूपी जलके प्रवाहसे यह सारा मल दूर हो जाता है। प्रभुकी भक्ति करो और एक ही मांग रखो कि हे प्रभो ! ये कर्म, सर्वविकल्प ये सब मेरे दूर हों और जब तक यह जीवन है तब तक मुझमें ऐसा बल प्रकट हो कि हजारों भी आपत्तियां आयें तो उन आपत्तियोंसे परे जो निज ज्ञायक स्वरूप है भगवान आत्मतत्त्व उसके दृष्टिके प्रसादसे मुझमें दुःख सहनेकी क्षमता पैदा हो।

भैया ! दुःखोंसे डर डरकर, दुःखोंका उपाय बना-बनाकर कोई दुःखसे दूर नहीं हो सकता है। पर दुःखोंके सहनेकी अपनी क्षमता बनायें तो दुःखोंसे दूर हो सकते हैं। क्या-क्या उपाय करना चाहिए कि दुःख न हों। जिस चीजका संयोग हुआ है उसका वियोग हम रोक सकते हैं क्या ? तो फिर उपाय कर करके दुःख दूर तुम नहीं कर सकते हो। पर दुःखोंके सहनेकी क्षमता उत्पन्न करके और अपने शुद्ध आत्मस्वरूपकी दृष्टि बना करके दुःखोंको दूर कर सकते हैं। सो शुद्ध परिणामोंका जल बहाओ और अपने सर्व पाप मलको दूर करो। खूब स्वाध्याय करो और अपने आत्मा

का बोध बनाओ, इससे ही पार होनेका मार्ग मिलता है।

सयलवियप्पहं जो विलउ परमसमाहि भणंति।
तेण सुहासुहभावडा मुणि सयलवि मेल्लंति ॥१९०॥

जो निर्विकल्प परमात्मस्वरूपसे विपरीत रागादिक समस्त विकल्प हैं उनका विनष्ट होना इसीका नाम परमसमाधि है। रागादिक भाव न होना इसीका नाम परमसमाधि है। आत्माका स्वभाव तो रागादिक करने का है नहीं, किन्तु उपाधिका निमित्त पाकर इस आत्मभूमिका में विभाव परिणमन होता है। वह विभावपरिणमन ही असमाधि है, उनका नाश होना सो समाधि है। छहढालामें बताया है कि यह राग आग दहे सदा तातैं समामृत सेइये। यह रागरूपी आग इस जगतको इस प्रकार जला रही है जैसे वनके ईंधनको आग जला देती है। इस राग आगके बुझानेका उपाय मात्र ज्ञानरूप मेघोंकी वृष्टि हो जाना है। इस जीवका उद्धार ज्ञानसे है, कमायीसे नहीं है, नाना विकल्पसे नहीं है। सबसे निराले केवल ज्ञानमात्र अपने आपको निरखना यही शांतिका उपाय है। सारा जगत दुःखी हो रहा है। उसका कारण है कि परकी ओर दृष्टि है। रागभाव बना हुआ है।

भैया! कितने खेदकी बात है कि रहना कुछ नहीं है पर राग छोड़ा नहीं जाता है। कुछ दिनोंमें सब फैसला हो जाना है, वियोग हो जाना है पर राग नहीं छोड़ा जाता। यह रागरूपी आग इस सारे जगतको जला रही है, इसलिए समतारूपी अमृतका सेवन करना उचित है। उस ही समताको परमसमाधि कहते हैं। वीतराग सर्वज्ञदेव, रागादिकके अभाव को परम समाधि कहते हैं। आत्मा निर्विकल्प ज्ञायकस्वरूप है, उससे प्रतिकूल ये समस्त विकल्प हैं, इन विकल्पजालोंके अभावका नाम परमसमाधि है। इसी कारण परम आराध्य जो आत्मतत्त्व है उसके ध्यानसे मुनिजन, तपस्वीजन सर्वप्रकारके शुभ अशुभ भावोंका परित्याग करते हैं। देखो अपना परमपिता अपने आपमें ही बसा हुआ है, किन्तु उसका दर्शन नहीं कर पाते हैं। सो उसका प्रसाद नहीं मिल सकता। अथवा यह ही जीव तो खुद परमपिता है, शरण है, परमात्मस्वरूप है, किन्तु इसका ध्यान न होनेसे यह गरीब बना फिर रहा है।

इस स्वयम्भूके दर्शन करने की यह पद्धति है जो इसका सहज स्वभाव है, उस स्वभावका उपयोग करना यह उसके दर्शनका उपाय है। सो अपने आपमें इस प्रकारका दर्शन तो करना नहीं चाहते और बाहरमें दूसरी जगह इन चर्मचक्षुवोंको गड़ाकर परमात्माको पहिचानना चाहते हैं तो कैसे

पहिचान सकते हैं ? जो परमात्मस्वरूप है सो ही यह आत्माका स्वभाव है। अपने आपके ज्ञायकस्वभावका लक्ष्य किए विना परमात्मस्वरूपका दर्शन नहीं हो सकता। कोई पिंडरूप जगतका कर्ता परमात्मा फिर नहीं रहा है कि जैसे यहां के लोग मिलते हैं तो लोगोंको दर्शन हो गया। तो कहीं परमात्माका भी दर्शन हो जाय, यों नहीं होता। समवशरणमें विराजमान् जिनेन्द्रदेवके भी कोई दर्शन करता हो तो भले ही उस मुद्राके शरीरके दर्शन करलें किन्तु अपने आप ज्ञायक भावका जोर लिए विना परमात्मा का वास्तवमें क्या स्वरूप है, उसकी परख नहीं हो सकती। इसलिए जिन्हें परमात्माके दर्शन करना है उन्हें अपने आपके आत्माके स्वभावका परिचय करना बहुत आवश्यक है।

अपने आपको सहजस्वरूप रूप निरख लेना, यह परम आराध्य-ध्यान है। चरित्र तो स्वरूपाचरण है, और उसही स्वरूपाचरणकी प्रगति के लिए अणुव्रत, महाव्रतरूप व्यवहार चारित्र पाला जाता है। यह स्वरूपाचरण चतुर्थ गुणस्थानसे प्रकट होता है और सिद्ध होने पर भी बना रहता है। पर चतुर्थ गुणस्थानका स्वरूपाचरण प्रतीतिरूप है और इससे ऊपरके गुणस्थानोंका स्वरूपाचरण दृढताको लिए हुए है और प्रभुमें स्वरूपाचरण प्रकट पूर्ण स्वच्छ विशाल रूप है। तो अपने आपका लक्ष्य किए बिना हम परमात्माके दर्शन कर ही नहीं सकते, ये मुनिजन संतजन इसी लिए परमसमताका पालन करते हैं और शुभ अशुभ भावोंका प्रतिकार करते हैं। ये शुभ अशुभ परिणाम शुद्ध आत्मद्रव्यसे उल्टे हैं। शुभ, अशुभ मन, वचन, कायके व्यापारसे यह अपना आत्मस्वभाव दूर है।

भैया! बंधनमें फसा हुआ जीव बंधनसे कैसे दूर हो, उसका उपाय यहां कहा जा रहा है। इस जीवको बहुत बधन लगे हैं—शरीरका बंधन, कर्मोंका बधन, विभावोंका बंधन, मन, वचन, कायकी क्रियाएँ हो रही हैं। विकल्प मच रहा है, ये सारे बंधन ही तो हैं। तो बधनसे दूर होनेका प्रथम उपाय यह है कि यह तो समझमें आये कि मेरा स्वभाव बधनरहित है। यदि अपने स्वभावको ही बधनसहित मान लिया तो बंधनसे छूटने का फिर उपाय कहांसे मिलेगा ? मैं आत्मा स्वभावदृष्टिसे बंधनरहित हू। आत्माके सहज स्वभावका परिचय एक बड़ी स्फूर्ति पैदा करता है। ऐसा ज्ञानस्वभावरूप आत्मतत्त्व है। उसका आश्रय करनेसे ये समस्त रागादिक विकल्प दूर होते हैं।

भैया ! अपने को असली शरण मिल जाना चाहिए। हम इस लोक में जिन जिनकी ओर मुँह ताकते हैं, अपनी शरण मानते हैं वे कोई पदार्थ

वास्तवमें मेरी शरण नहीं हो पाते। प्रथम तो ये बाह्य चेतन अचेतन पदार्थ जिसको शरण मानकर निकट पहुंचते हैं वे अनुकूल नहीं परिणमते, प्रतिकूल परिणमते हैं। तब शरण क्या मिलेगा और कदाचित् अपने कुटुम्बके पुरुष ? मित्रजन मेरी इच्छाके अनुकूल परिणम जायें तो अपना राग बढ़ा-बढ़ा कर खुद अशरण हो जाए, शरण कहा मिलती। इस जीव को शरण चाहिए ऐसी, जो कभी धोखा न दे, सदा साथ रहे, बस इस लक्ष्यको लेकर निगाह करते जाइए। हमें वर्तमान परिस्थितिमें क्या करना पड़ता है यह बात तो अलग है, चल रहा है ऐसा पर अपना लक्ष्य क्या होना चाहिए, हम किसकी शरणमें पहुच जायें तो उससे धोखा न हो और सदा साथ रहे। धोखा उनसे होता है जो विनाशीक हैं। विनाशीक पदार्थोंकी शरण गहना परमार्थ शरण नहीं है। जो चीज मिट जाती है उसकी शरणमें जायें और वह चीज मिट गई तो आकुलता होगी हम विनश्वर वस्तुवोंका क्या शरण गहें ?

यद्यपि उन विनश्वर वस्तुवोंसे भी इस गृहस्थ पदवीमें काम पड़ता है, गृहस्थावस्थामे अन्य वस्तुवोंके संग्रह विग्रह किये बिना गुजारा चल ही नहीं सकता। वे जितने भी पदार्थ हैं सब विनाशीक हैं। इन विनाशीक वस्तुवोंके सभालने और अपनी पोजीशन रखनेका क्या ख्याल करें, ये स्वय मर मिटने वाले पदार्थ हैं। इनकी आशा रखना, शरण रखना व्यर्थ है। तब इस जगत्में हम किसकी शरण गहें ? जो विनाशीक न हो। तो भाई विनाशीक तो सिद्ध नहीं है। वह कभी भी अपनी अवस्था न बदलेगा जैसा है तैसा ही रहेगा। ठीक है वह तो विनाशीक नहीं है किन्तु यह प्रभु और उनका उपयोगी यह मैं उनमें एकरूप तो नहीं हो सकता। वह आदर्श है परमशरणके पास पहुचनेके लिए। उन अरहत सिद्ध प्रभुके स्वरूपको ध्यान करके हम अपने आपमें अपनी शरण गह सकते हैं, पर वह मेरा कुछ सुख दुःख बना दे, दुःखसे छुटाकर अपने पास पहुंचा दे, सो नहीं कर सकता है।

सूर्यका काम मार्ग दिखा देना है, पर किसीका हाथ पैर पकड़कर जबरदस्ती चला देना सूर्यका काम नहीं है। कहीं अपना छता भूल आए किसी दुकान पर, और आगे चल दिये और दूसरेका छता दिख गया तो उस छातेको देखकर स्मरण हो आया कि छाता भूल गए हो, इतना तो काम हो गया पर यह तो नहीं हो सकता कि वह छत्ता जाकर उस अपने छाते को ले आये अथवा तुम्हें लपेटकर दुकान पर छाता लिवा ले आए, वह खुद आयेगा, दुकानदार गड़बड़ हुआ तो कुछ भिड़ेगा भी और

लायेगा। ये प्रभु पदार्थ कल्याण मार्ग दिखानेके लिए आदर्श हैं, पर हम मार्ग पर न चलें तो प्रभु हमें हाथ पकड़कर उद्धार न कर देगा। मोह हमें ही छोड़ना होगा तब उद्धार होगा। रागद्वेष मोह हमें दूर करना होगा तब उद्धार होगा।

अहो किसी क्षण कमरेमें बैठे हुए, दुकानपर बैठे हुए, किसी धर्म कार्यमें रहते हुए यह ध्यान तो हो जाय कि समस्त पर सत् हैं, किन परका विकल्प करते हो? अपने आपमें विराजमान् जो सहज स्वरूप है उसकी दृष्टि ही जाय तो वे क्षण धन्य हैं। असली कमायी यह है। बाकी तो जिसे कहते हैं कोयलेमें काला हाथ करना। और वास्तविक कमायी तो जितना अपने स्वरूपके निकट बस सकें और उस स्वरूपकी उपासनासे, परमात्मा की उपासनासे, अपने स्वरूपके स्पर्शसे जितना आनन्द पा लिया, आनन्द से तृप्त हो लिया, निराकुल हो लिया उतनी तो कमायी है, उतने क्षण सफल हैं और बाकी चाहे किसी भी बातमें हम बुद्धिमानी समझें, वैभव जोड़ लें इज्जत बढा लें, मगर यह अपनी कमायी नहीं है।

भैया! अपने को लाभ तो रत्नत्रयसे प्राप्त होगा। यह वैभवका प्रसंग, चेतन अचेतन परिग्रहका सग ये कुछ भी लाभ न देंगे। इस कारण जितना हो सके, यत्न करें तो अपने ज्ञानके स्पर्शका करें। जैसे कोई पुरुष नीचेसे ऊपर आना चाहता है तो सीढ़ियोंसे चढ़कर आता है तो सीढियों का आश्रय लेता है पर उसकी दृष्टि रहती है ऊपर आनेके लिए। सीढ़ियों को समझो व्यवहार और ऊपरको समझो निश्चय। दृष्टि रहती है निश्चय की ओर प्रवृत्ति चल रही है व्यवहारकी। यही है ऊपर आनेका तरीका। ऐसी ही बात कल्याणमार्गगामी पुरुषोंके होती है कि दृष्टि तो रहती है उनको अपने शुद्ध आत्माकी, मैं यह हू और उस आत्मस्वभावके दर्शनकी धुनमे जितनी भी प्रवृत्तियां करते हैं वे हैं व्यवहारधर्म।

भैया! यह चीज ध्यानमें न हो कि हमें क्या बनना है तो हम बनेंगे क्या? हमे सिद्ध बनना है मानो तो हम बनेंगे क्या? हमें सिद्ध बनना है मानो तो सिद्धका अर्थ है केवल। अर्थात् खालिस आत्मा रहना है। केवल खालिस आत्माके रहनेका नाम सिद्ध परिणति है। इस आत्माके साथ सयोगमें वर्तमान समवायमें कर्म हैं, शरीर है और रागादिके परिणाम हैं। केवल नहीं है इस समय और बनना है हमे केवल, खालिस यामे सिद्ध तो हम अपने आपमें इस केवलका भी कुछ स्वरूप है, यह ज्ञात न हो तो केवल बननेका यत्न कैसे करेंगे? तो जैसी हमारी दृष्टि होती है वैसा ही तो हमें स्वाद मिलता है। हम कहां हैं वह तो ठीक है, परिस्थिति कैसी है

यह भी ठीक है, फिर भी हमारा जहा लक्ष्य होगा, दृष्टि होगी, उसके अनुरूप अनुभव होगा।

एक बार बादशाहने बीरबलको नीचा दिखानेके लिए कहा कि आज मैंने ऐसा स्वप्न देखा कि हम तुम दोनों चले जा रहे थे। रास्तेमें पास ही पास दो गड्ढे मिले। एक गड्ढा था शक्करका और एक था गोबरका। सो तुम तो गोबरके गड्ढेमें गिर गए और हम शक्करके गड्ढेमें गिर गए। बीरबलने कहा, 'महाराज, ऐसा ही तो स्वप्न हमे भी आया, पर इससे आगे थोड़ा और देखा कि हम तुम्हें चाट रहे थे और तुम हमें चाट रहे थे। अब यह बतलावो कि बादशाहको क्या चटाया? गोबर और खुदने क्या चाटा? शक्कर।

तो यों समझ लीजिए कि हम गोबरके गड्ढेमें हैं। आरम्भ परिग्रह सम्बन्धी सभी कार्य करने पड़ते हैं पर उस गृहस्थका लक्ष्य यदि परमात्म स्वरूपकी ओर हो, उसकी ही धुनि बनी हो, तो उसके स्वादका आनन्द आयेगा और कदाचित्त बाह्यपदार्थोंका त्याग भी कर दें और अन्तरमें उन ही बाह्य पदार्थोंके ग्रहणका विकल्प रहे, जिस घरको छोड़ा उस घरकी खबर रखे तो परिस्थिति उसकी शक्करके गड्ढेमें पड़े रहनी जैसी है किन्तु स्वाद ले रहा है गोबरका।

इस दोहेसे यह शिक्षा मिलती है कि समस्त परपदार्थोंकी आशासे रहित जो निज आत्मद्रव्यका स्वभाव है उससे विपरीत जो नाना प्रकारकी आशाएँ हैं इस लोककी और परलोककी, उन्हें जब तक मनमें ठहराता है तब तक यह जीव दुःखी है। ऐसा जानकर समस्त परद्रव्योंकी आशासे रहित जो निज शुद्ध आत्मस्वरूप है उसकी भावना करना चाहिए। देखो यह सारा जगत आशारूपी पिशाचके गड्ढेमें पड़ा हुआ कितने कठिन दुःख सह रहा है? आशा छूटे तो क्लेश छूटें। आशा बनी हैं तो क्लेश ही क्लेश रहेंगे। जिनकी आशा दूर हो गयी हैं उनके समस्त क्लेश दूर हो गए हैं। यहां परमसमाधिका वर्णन चल रहा है कि जिनके रागादिक विकल्प नहीं हैं उनके परमसमाधि प्रकट होती है।

घोरु करंतु वि तव-चरणु सयलवि सत्थ मुणंतु।
परमसमाहिविवज्जियउ णवि देक्खइ सिउ सतु ॥१६१॥

कहते हैं कि तपस्या भी कोई कर ले, समस्त शास्त्रोंको भी कोई जान ले, किन्तु परमसमतासे जो रहित है वह पुरुष शात शिव शुद्ध आत्माको नहीं प्राप्त होता। तपस्या नाम किसका है? वास्तवमें तपस्या नाम उस परिणति का है जिसमें किसी भी परवस्तुकी

आशा नहीं है और शुद्ध आत्माके अनुभवनमे तपन हो रहा है उसको तपस्या कहते हैं। ये बाह्य जो तप हैं बड़े दुर्धर घोर तप उनका भी प्रयोजन यह है कि इस तपस्याके उपयोगसे विषय कषायकी प्राप्ति नहीं हो और हम शुद्ध आत्माके अनुभवमे तप जायें, यह प्रयोजन है। जीवका उपयोग जब अपने शुद्ध आत्मामें केन्द्रित होता है उस समयका प्रतपन एक वास्तविक प्रतपन है। लोग कहते हैं कि मन नही लगता है। आत्मा में उपयोग नही ठहरता है तो कठिन बात है ना। ऐसी कठिन बातको करले कोई तो यही तो तप है।

भैया! जो कायर पुरुषोंसे नहीं बन सकता ऐसे कार्यको कर सके उसीका तो नाम है तप। जैसे बाह्य तप हर एकसे नहीं किया जा सकता है। प्रतिमायोग धारण, गर्मीमें तपना, अनशन आदि होते रहना, यह हर एकसे जैसे नहीं बन सकता, इससे भी अधिक तप है आशाका त्याग और शुद्ध आत्मस्वरूपकी दृष्टि। यह जो अतरङ्ग तपश्चरण हैं यह उससे भी कठिन चीज है। कोई जीव दोनों प्रकारकी बातोंसे तो रहित हो, न तो शुद्धआत्माका अनुभव हो और न परवस्तुकी आशाका त्याग हो, ऐसी स्थितिमे घोर तपस्या भी कोई करे तो भी वह शिव शांत परमात्मतत्त्वको नहीं देख सकता क्योंकि उनके अतरग तपश्चरण नहीं होता।

भैया! कैसे-कैसे दुर्धर तप हैं? वृक्षके मूलके नीचे बड़ी बरसातमे भी ध्यान लगाये रहना, गर्मीके समयमें पर्वत आदिक अथवा मैदानके स्थानोंमें गर्मीका आताप सहना और सर्दीमें नदी आदिके किनारे पर जहां कि बड़ी तेज बर्फीली हवा चल रही हो निश्चल बैठे रहना और आत्माके ज्ञानसुधा रससे तृप्त होना, ये बातें जिसके पायी जाती हैं उनके तो तपश्चरण अतरगसे भी है, पर शुद्ध आत्माका अनुभव नहीं हो और केवल बाह्य तपस्या हो तो जैसी दृष्टि हो वैसी ही तो सृष्टि होती है। केवल इस स्थितिमे परद्रव्य पर दृष्टि है। यह शरीर है, यह मैं हू, मैं तपस्या करूँगा तो मोक्ष जाऊँगा। अरे कहा बुद्धि डाल रहे हो? एक शुद्ध ज्ञायकस्वरूपका अनुभव पाये बिना वही सब फिर अकार्यकारी हो जाता है। यदि अपने शुद्ध आत्माका परिचय हो जाय तो। न परिचय हो अपना तो यह काम कार्यकारी नही हो पाता। परिचय हो जाय तो यह कार्यकारी हो जाता है।

जैसे पूजन करने वाले बहुत होते हैं जो कि सुबह ठढमें न होते और मंदिरमें घंटोंका समय पूजनमें बिताते बाहरमे सबका एकसा उद्योग है, समय भी लगाते, द्रव्य भी चढ़ाते, सारे काम उसी प्रकार होते रहते

हैं। पर उनमें जो पूजाका लक्ष्य समझते हों, प्रभुका स्वरूप जानते हों, अपने हितकी बात समझते हों, उनको पूजनका वास्तविक फल मिलता है और जिसको न प्रभुस्वरूपका पता है, न आत्मस्वभावका पता है और कर रहे हैं उसी तरह सब काम। उनके वे काम बाह्य दृष्टिके ही हो रहे हैं, अनात्म बुद्धि करके हो रहे हैं, तो भले ही उस कालमें मद कषायके प्रतापसे पुण्य बंध होता है, पर संसारके संकटोंसे किस तरह छूटकर निकलना होना है? यह मार्ग समझमें नहीं आया है। सो तपश्चरणको कर ले जब तक परमसमाधि नहीं होती है तब तक शिव शांत इस प्रभुस्वरूप को नहीं निरख सकते हैं।

और तपस्याकी ही केवल बात नहीं है, सर्वशास्त्रोंको भी जान लेवे, पर उन शास्त्रोंके मर्मको पहिचाने बिना शास्त्रोंको भी पढ़ ले तो केवल उनकी जानकारी एक विकल्प भर है। तात्पर्यका पता नहीं है तो ऐसा पढ़ लिख कर यह परमसमाधिके बिना शिव-शांत आत्मतत्त्वको नहीं निरख सकता है।

एक सेठ जी थे। जब उनका मरणकाल आया उससे पहिले सब व्यवस्था बनायी और जो गुप्त धन था उसको संकेत भाषामें अपनी बहियोंमें लिख गए और गुजर गए। कुछ दिनों बाद सेठ जी के लड़के दरिद्र हो गए। उनके हाथ वह बही लग गई जिसमें लिखा था गड़ा हुआ धन। क्या लिखा था? "कोई दिन —जैसे मान लो माघ बदी चतुर्दशीको चार बजे दिनके मंदिरके सिखरमें जो धन गड़ा है उसे खोद कर निकालना।" सो माघ बदी चतुर्दशीको चार बजे शामको वह मंदिरके सिखर पर चढ़ गया और उसको खोदने लगा। तो इतनेमें कोई धर्मप्रेमी सज्जन थे तो बोले क्या कर रहे हो? बोला कि सिखरमें धन रखा है, पिता जी लिख गए हैं कि माघ बदी चतुर्दशीको चार बजे दिनके सिखरमें धन गड़ा है सो खोद लेना। उसने कहा कि अगर सिखरमें धन गड़ा है तो वह कभी भी खोदो तो निकलेगा। माघ बदी चतुर्दशीको दिनके चार बजे ही क्यों निकलेगा? सो वह सोचकर कहता है कि सेठ जी की आगनमें माघ बदी चतुर्दशीको दिनके चार बजे सिखरकी छाया जहा पड़ती है वहा धन गड़ा है सो खोद लेना। तो लिखा तो जरूर था कि माघ बदी चतुर्दशीको दिनके चार बजे सिखरसे धन खोद ले पर उसका उसने मर्म न जान पाया था। उसका तात्पर्य था कि पौषमें दूसरी जगह छाया सिखरकी पड़ती है, सुबह दूसरी जगह पड़ती है, २ बजे दूसरी जगह पड़ती है और चार बजे दूसरी जगह पड़ती है। इस जगह पर इस नियत समय पर पड़ती है। सो यही

लिखा गया था।

सो भैया! कितने ही शास्त्रोंको पढ़ लें, पर मर्म जाने बिना परम समाधि नहीं प्राप्त होती। परमसमाधि उसे कहते हैं जहां किसी प्रकारके रागादिक विकल्प नहीं हैं। आत्माका उद्धार तो बिलकुल स्वाधीन बात है। दृष्टि फिरे तो बड़ा सुगम है और दृष्टि न फिरे तो बड़ा दुर्गम है। जैसे कोई बच्चेको अपनी गोदमें लिए है और दूसरोंसे पूछता है कि बच्चा कहां है, तो उसे कितना भ्रम वाला कहते हैं? तो जैसी मूढ़ता वहां कह सकते हैं वैसी ही मूढता यहां हो रही है कि खुद तो हैं शांत और आनन्द का निधान, किन्तु अपने आपके स्वरूपकी दृष्टि न होनेसे कहां कहा अपनी शांति खोजी जा रही है? बाहरमें खोजनेसे अपनेको शांति न मिलेगी।

जहां रागादिक विकल्प नहीं हैं ऐसी परमसमाधिसे रहित कोई साधु है तो वह ज्ञानदर्शन स्वभाव वाला अपने परमात्मतत्त्वको नहीं देख सकता है। यद्यपि वह अपने ही देहमें स्थित है, लेकिन पर दृष्टि होनेके कारण उसे नहीं निरख सकते हैं। वह परमात्मतत्त्व कैसा है? पर उपशम रूप, रागद्वेष मोहसे रहित वह परमात्मतत्त्व है। यहां यह तात्पर्य है कि यदि कोई अपने शुद्ध आत्मतत्त्वको उपादेय मानता है तो अपने आपका केवल स्वरूप जैसा है वैसेको निरखते रहना ही उपादेय है, ऐसा मानकर उसके साधकरूपसे उसके अनुकूल तपश्चरण करना और उसके परिज्ञानके साधक शास्त्रोंका पढ़े कोई तो परम्परया मोक्षका साधक होता है और यदि अपने शुद्ध स्वरूपकी उपादेयताकी दृष्टि नहीं है तो उन तपस्याओंसे और उन शास्त्रोंके ज्ञानसे पुण्यबंध तो हो जायेगा, पर संसारके संकटोंसे किस तरह निकला जाता है? वह मार्ग नहीं दीख सकता।

भैया! जो निर्विकल्प समाधिसे रहित पुरुष हैं वे अपने स्वरूपको नहीं देख सकते हैं। आनन्द तो स्वयं इस आत्माका स्वरूप है। वह अपने देहमें व्यवस्थित है। इसी कारणसे जिनका ध्यान इस ओर नहीं है वे इसे नहीं देख सकते हैं। दृष्टि ही नहीं है इस ओर तो कैसे दीखे? जैसे जो जन्मसे अंधा पुरुष है वह सूर्यको क्या देखेगा? इसी तरह ध्यानहीन पुरुष, आत्मदृष्टि से रहित पुरुष इस परमात्मतत्त्वको निरख नहीं सकता है।

विसय कसायवि णिद्दलिवि जे ण समाहि करंति।
ते परमप्पह जोइया णवि आराहय होंति॥१६२॥

विषय कषायों को भी दलकर जो समाधिको नहीं प्राप्त करता। हे

योगी—वह परमात्माका उपासक ही नहीं है। संसारमें यदि कोई संकट है तो वह परदृष्टि है दूसरा कुछ संकट है ही नहीं। किसे कहेंगे संकट? परदृष्टिकी पुट है तो संकटोंका विस्तार है और परदृष्टि नहीं है तो कोई संकट नहीं है। जो पुरुष विषयकषायोंको उखाड़कर परमसमाधिको नहीं प्राप्त कर सकता, वह परमात्माका आराधक ही नहीं है। विषय कषाय अपने शुद्ध आत्मस्वरूपसे विरुद्ध हैं, आत्माका स्वरूप विषय और कषाय से रहित है, ऐसे विषय कषायोंको जो नहीं दलते हैं और मन, वचन कायसे मुक्त नहीं हो सकते हैं, वे पुरुष निर्दोष परमात्मतत्त्वके आराधक ही नहीं हैं।

भैया! ध्यान कैसे जमें? इसके ५ कारण हैं। प्रथम कारण है वैराग्य। कहते हैं कि हमारा मन स्थिर नहीं रहता। अरे मन, वचन, काम वाला जो राग है वह राग भाव निकले तो चित्त स्थिर रहेगा। धन्य हैं वे योगी, जिनकी दृष्टि केवल निज सहज ज्ञायकस्वभावकी ओर हो। आत्मस्वभावकी दृष्टि और अनुभूतिके प्रतापसे जिनको पचेन्द्रियके विषयोंमें राग नहीं रहता है, ये विषय जिनके नीरस हो जाते हैं वे वैराग्यशील पुरुष धन्य हैं। वैराग्य उसे कहते हैं जहा विषय कषायोंके परिणाम न हों और खाली आत्मस्वभावका अनुभवन रहे। इसको वैराग्य आ गया, इसका अर्थ यह लगाना कि विषय कषायोंमें राग नहीं रहा और शुद्ध आत्माका अनुभव जग गया। इसीका अर्थ है वैराग्य। राग मिट गया।

भैया! राग मिट गया तो चीजोंका लपेट कहा रहा? चीजोंके लपेटनेका कारण तो राग है। सो जब शुद्ध रागरहित ज्ञायकस्वरूपका परिचय होता है तो विषय कषायोंसे निवृत्ति होने लगती है। अन्तरमें हटना और लगना—ये दो काम पडे हुए हैं। विषयकषायोंसे हटना और अपना जो सहज स्वभाव है उसमें अपना उपयोग लगाना। ये दोनों बातें यद्यपि एक साथ होती हैं फिर भी बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ हटानेमें लगें, निषेध में लगें या विधिमें लगें। करनेका काम विधि है, हटाना नहीं है। कोई पुस्तक हाथसे लेकर कहीं बाहर फेंक दी तो लोग यह कहते हैं कि इसने पुस्तक हटा दी, पर व्यवहारमें भी उसने हटाया, आगे किया या अपनी ऐसी क्रिया की। हटाया नहीं किसीको है। हटाना विधिरूप बात नहीं है। क्रिया होना, संचरण होना विधिरूप बात है। हम रागद्वेषको कैसे हटायें? उपयोग ऐसा बने कि रागद्वेषका आश्रय न लें, लो रागद्वेष हट गए। तो प्रथम कारण तो है वैराग्य, विषयकषायकी निवृत्ति, शुद्ध आत्मतत्त्वका

अनुभव, ध्यानका कारण वैराग्य है। चित्त न लगता ध्यानमें, भक्तिमें, आत्मचिंतनमें तो समझो कि कोई राग बैठा है। राग न हो तो सहज उपभोग बने।

ध्यानका दूसरा कारण है तत्त्वविज्ञान। कोई कहे कि वैराग्य भी हमारा कैसे बने, शुद्ध आत्माका अनुभव कैसे बने ? तो दूसरा कारण बताया है तत्त्वविज्ञान। पदार्थका जैसा स्वरूप है उस स्वरूप रूप जानना, लो तत्त्व विज्ञान हो जाय बस यही तो वैराग्यका हेतु है। जान लिया चेतन चेतन है, जड़ जड है, प्रत्येक सत् स्वतत्र है, किसी अन्य सत्का किसी दूसरे सत् पर कोई परिणमन नहीं होता। निमित्त अवश्य होता है। विरुद्ध परिणमन विभावरूप परिणमन का निमित्त पाये बिना नहीं होता। न हो कोई निमित्त तो इस द्रव्यको यह अटकी नहीं है कि मैं तो बहुत बुरा ही परिणमूँ। जैसा सहज मेल है वैसे यह परिणम जाता है। तो उस शुद्ध आत्माके अनुभवरूप वैराग्यके लिए आवश्यकता है तत्त्व-विज्ञानकी। तत्त्वविज्ञान वहीं वास्तविक है जहा शुद्ध आत्माकी उपलब्धि हो रही हो।

ध्यानका तीसरा कारण है निर्ग्रन्थ अवस्था। कोई परिग्रह न हो तो उसका चित्त समाधानरूप रह सकता है। चौथा कारण है चित्तका वश कर लेना। यद्यपि तत्त्वविज्ञान हुए बिना चित्त वशमें नहीं होता, नाना विकल्पोंमें उलझता रहता है, फिर भी बाह्य कारण ऐसा उद्यमपूर्वक पहली पदवीमें मिलाया जाता है कि जिससे तत्त्वविज्ञानका अवसर प्रकट हो। तत्त्वविज्ञान हो जाने पर तत्त्वविज्ञानी जीव अपने आपसे जनता को मापकर, साधारण जनको उसी प्रकार निरखकर, अपना प्रथम जैसा उपाय नहीं बताकर, प्राक् पदवीकी विधियोंका उनके लिये निषेध करे तो बात यों नहीं बनती।

अच्छा, इस तत्त्वविज्ञानी जीवने पहिले क्या किया था ? कोई अवस्था ऐसी होती है कि ऊपरी कुछ विवेक होनेपर साधनोंको जुटाता है। फिर कोई अवस्था ऐसी होती है कि वह साधनोंमें साधारणतया रहता है और उपादानकी ओर दृष्टि रखता है। और बड़ी अवस्था हुई तो बड़ी अवस्था पा लेने पर यह माप न करो कि सभी जीवोंका शुरूसे यही उपाय हो। भिन्न-भिन्न पदवियोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारसे ये सब आलम्बन चलते हैं। पर परिपक्व अवस्था वहां होती है जहा प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र सत् नजर आने लगते हैं। ऐसा होने के लिए उसे परिषह विजयी भी होना चाहिए। यह ध्यान का ५वां कारण बताया जा रहा है। आता है उपद्रव,

क्लेश आते हैं, संकट आते हैं उनको सहन करने की सामर्थ्य होनी चाहिए तब जाकर ध्यान वास्तवमें बन सकता है। इन ५ कारणोंके बिना ध्यान चलायमान् चलता फिरता रहता है। सो इन ५ कारणोंको बैठाकर, अपने आपमें अपनी दृष्टिकी मुख्यता रखकर स्वभावसुधारसका दर्शन करके ऐसा आनन्द प्राप्त करो कि जिसके प्रतापसे भव भवके बाध हुए कर्म क्षणमात्रमें खिर जाते हैं।

भैया! कर्मोंको बीन बीनकर देख देखकर अलग नहीं किया जाता, किन्तु ऐसा निर्मल परिणाम बने कि, जिसके प्रतापसे ये समस्त कर्म अपने आप खिर जाते हैं। यहां परमसमाधिका वर्णन चल रहा है। इस की महिमा गायी जा रही है कि इस परमसमाधिका जो आश्रय नहीं करता वह पुरुष परमात्माका आराधक ही नहीं है, ऐसा जानना चाहिए। इससे शिक्षा यह लेना कि अपने व्यवहारमें हम समतापरिणाम- बनायें। जरा-जरासी बातोंमें क्रोध हो जाना अहंकार हो जाना, छल कपटके परिणाम हो जाना, इनसे तो कुछ भी लाभ न मिलेगा। ऐसी उदार दृष्टि जगे कि बाह्यपदार्थोंके परिणमनको निरखकर अपने अन्तरङ्गमें विह्वलता न उत्पन्न हो। यही है बड़ी तपस्याकी साधना।

परमसमाहि धरेवि मुणि जे परबंभु ण जंति।
ते भवदुक्खइँ बहुविहइँ कालु अणंतु सहंतु॥१९३॥

जो कोई मुनि परमसमाधिको धारण करके निज देहमें ठहरे हुए परमब्रह्मको नहीं जानते हैं वे शुद्ध आत्माकी भावनासे रहित होते हैं, नाना प्रकारके संसारके दु खोंको सहते हैं। भैया! अपने आपके सहज-स्वरूपकी पहिचान की जाय तो संसारके समस्त क्लेश दूर हो जाते हैं। एक अपने आपके सहजस्वरूपकी पहिचानके बिना जो साधु परम समता-परिणामको धरकर, व्यवहारिक समतापरिणामको रखकर भी अपने आपके परम ब्रह्मस्वरूपको नहीं जानते वे दु.खोंको ही सहते हैं। इस आत्माका जो सहज स्वरूप है, उसका जो रूपक है, उसका ही वर्णन यदि किया जाय तो कुछ-कुछ सुननेमें ऐसा मेल खाता है जिसे सर्वव्यापक अविकारी ब्रह्मका स्वरूप वेदांतमें कहा है। परन्तु वही एक ऐसा ही स्वतंत्र सत् नहीं है। जब इसका ज्ञान करते हैं तब मेल खाते हैं।

समस्त जीव अनन्तानन्त हैं। इस जीवमें स्वभावसे वही स्वरूप पाया जाता है जो सब जीवोंका एक समान है। इस कारण ब्रह्मस्वरूप एक है। संसारमें जीव सर्वत्र पूर्णतया व्यापक हैं। ऐसा कोई स्थल नहीं है जहां पर कोई जीव न ठहरा हो। तब जब सर्व जीव सामान्य रूपसे

व्यापक हैं तो वह ब्रह्मस्वरूप भी इन्हीं सबमें है, इसलिए ब्रह्म स्वरूप भी व्यापक है। यों यह ब्रह्मस्वरूप व्यापक हो गया। ये सब जीव स्वयं ब्रह्म स्वरूप हैं, परन्तु स्वरूपसे जब देखते हैं तब वह अपरिणामी दिखता है। परिणमन पर्यायमें है, स्वभावमें परिणमन नहीं है। यद्यपि स्वभाव विभाव के द्वारा तिरोहित हो गया है, फिर भी स्वभाव अपरिणामी है।

स्वभावको जाननेकी यह तरकीब है कि सम्भावनारूप देखें। जैसे व्यवहारमें कहते हैं कि पानीका ठंडा रहनेका स्वभाव है। अग्निसे गरम हो जाने पर फिर क्या पानी ठंडा मालूम होता है? नहीं। पानीका स्वभाव ठंडा है लेकिन जब अग्निके संयोगसे तप्त हो जाता है उस स्थितिमें ठंडा स्वभाव अनुभूत नहीं होता, फिर भी स्वभावसे ठंडा ही है। यदि स्वभाव ठंडा न होता तो पानी ठंडा कभी नहीं हो सकता है। तो स्वभाव सम्भावनारूपसे जाना जाता है और वह स्वभावसे अपरिणामी है। चाहे पानी गर्म भी हो तो भी उसका स्वभाव ठंडा ही कहा जायेगा गर्म होने पर भी। इस दृष्टिसे स्वभाव अपरिणामी हुआ। तो इस आत्माके स्वरूपको जब स्वभावदृष्टिसे देखते हैं तो वह सब विशेषण इसमें आ जाते हैं और विशेषण वेदांतमें ब्रह्मस्वरूपको कहा गया है परन्तु यह स्वभाव यह आत्मा यह परमब्रह्म जिस रूपसे निरखा जाने पर वह आत्मा सर्व व्यापक एक नजर आया है वह इतना ही सद्भूत नहीं है। उसने स्वभावकी परख की है।

पदार्थ तो यहां चैतन्यस्वरूप आत्मद्रव्य है। इन समस्त चेतनोंमें जो स्वभाव पाया जाता है उस स्वभावमें उपयोगकी स्थिरताको परम समाधि कहते हैं। ऐसे इस परमब्रह्मको जो मुनि नहीं प्राप्त करते हैं वे नाना प्रकारके संसारके दु:खोंको अनन्तकाल तक सहते हैं। जिनकी दृष्टि निर्मल होती है वे यह वर्णन सुनकर और कहकर अपनेमें पक्ष और मलीमसता नहीं उत्पन्न करते। कितने जोरसे यह कहा जा रहा है इस दोहामें कि 'समता धारण करके भी, परमसमाधिको धारण करके भी जो परमब्रह्मको नहीं जानते हैं वे नाना भावी दु:खोंको अनन्तकाल तक सहते हैं।' तीर्थ तो यह है कि इस अणुव्रत महाव्रतकी प्रवृत्तिको चलाना और इस प्रवृत्तिको चलाते हुए जो जीव अपने स्वभावका परिचय प्राप्त कर लेते हैं और ज्ञान सुधारसका स्वाद लेकर अलौकिक आनन्दसे तृप्त होते हैं उनका तिरना अवश्य सिद्ध है। अलौकिक तीर्थ यही है, इस तीर्थप्रवृत्ति बिना धर्मका मर्म भी पहिचाननेका अवसर नहीं आ सकता।

सो भैया! तीर्थप्रवृत्ति है व्रतोंकी प्रवृत्ति, लेकिन इसमें भी यदि

परमब्रह्म स्वरूपका ज्ञाता होले तो उसके संसारका निरना अवश्य सिद्ध हो गया। जो मुनि अपने देहमें ही विराजमान परमात्मस्वरूपको नहीं देखता कैसा है जो परमात्मस्वरूप ? केवल ज्ञानादिक अनन्त गुण स्वभावरूप है। परमब्रह्म शब्दसे वाच्य ऐसे उस परमात्मस्वरूपको जो नहीं जानते हैं वे यद्यपि प्रतिज्ञा कर चुके हैं परमसमताकी, वीतराग तात्त्विक ज्ञानानन्द-स्वरूप अनुभवकी, किन्तु जब शुद्ध आत्माकी भावना ही नहीं हैं तो वे संसारके दु खोंको सहते हैं। चीज क्या है कि वस्तुका वस्तुत्व ही सत्त्वके कारण जैसा उसका स्वरूप हो सकता है वह ध्यानमें आ जाना, इतनी ही बात तो करना है निश्चयके पाने के लिए। फिर जिसने अपने ऐसे सहज-स्वरूपका बोध किया है वह ज्ञानी पुरुष है और उस ज्ञानीपुरुषके इस सहज स्वरूपके ही बोधकी धुनके कारण जो उसका यत्न होना है चलना फिरना, बैठना उठना, अन्य और द्रव्य समारम्भ करना, वे सब अपने लक्ष्यको बाधित करके नहीं होते हैं।

अपने लक्ष्यको बाधित न करके प्रवृत्त होना, इसही का नाम शुभोपयोग है। तो उस शुभोपयोगमें खासियत है अपने लक्ष्यको बाधित न करके होना अर्थात् जिसके अपने सहजस्वरूपका परिचय नहीं है और ऐसे कवल्यका जिसके लक्ष्य नहीं है वे पुरुष कर्मक्षयके उपायको नहीं कर पाते हैं। अत जैसे हम अनेक बातें जानते रहते हैं वैसे ही हम अपने आत्मा को भी जानें। जैसे हम अन्य पदार्थोंको अकेले-अकेले जानते हैं, इन स्कन्धोंमें बने हुए, समाये हुए एक-एक अणुकी चर्चा कर लेते हैं और वह एक अणु किस प्रकारका होता है ? ऐसी चर्चाएँ जब हम करते हैं तो यह इकला आत्मा कैसा है ? इसकी दृष्टि देना, यह भी एक ज्ञान है और सम्यग्ज्ञानमें सम्यक्त्वको डालने वाला ज्ञान है। उसको जानना परम आवश्यक है, फिर जिसकी जैसी पदवी है, गृहस्थ है, साधु है उस पदवीके अनुसार उसका आचरण चलेगा।

भैया ! इस ब्रह्मस्वरूपको जाने बिना ये नारकादिक दु ख भोगे जाते हैं। नाना प्रकारके जिसमें सांसारिक क्लेश हैं, मानसिक क्लेश हैं वे सब दु ख इस अपने सहज स्वरूपके जाने बिना भोगे जा रहे हैं। यह आत्म तत्त्व तो पारमार्थिक सुख स्वरूप है। कहा तो यह स्वभाव शुद्ध ज्ञानानन्द रूप है – शुद्धका अर्थ है ज्ञानगुणका ज्ञानगुणकी ओरसे जैसा जो कुछ होना चाहिए उसे कहते हैं शुद्ध ज्ञान, और कहां कर्म उपाधिका निमित्त पाकर जो विकार परिणमन होता है ऐसा अशुद्ध भाव। सो यह जीव अनन्तकाल पर्यन्त अर्थात् जब तक इसको चेतन होगा तब तक यह जीव

संसारमें दुःख भोगना रहता है यह है—मर्मकी बात।

इस पदकी स्थिरता करनेके लिए जब कि गृहस्थजन कोई विषय कषायोंमें अपना उपयोग बसाये रहते हैं तो इन विषयकषायोंसे बचनेके लिए, अशुभोपयोगसे जो अपना घात हो रहा है उस घातसे बचनेके लिए क्या बात बन सकती है गृहस्थावस्थामें ? तो कदाचित कभी शुद्ध स्वरूप की रंच झलक भी हो जाय किन्तु अधिकतर परमेष्ठीका गुणस्मरण, गुरुवों की सत्संगति और और भी परोपकार, दया दान आदिक नाना प्रकारकी शुभ वृत्तियां बनती हैं, तो ऐसी शुभ वृत्तियोंमें रहते हुए हम लोगोंका लक्ष्य उस कैवल्य प्राप्तिका होना चाहिए। मुनि इसे कहते हैं जो आत्माके कैवल्य स्वरूपका उपासक हो। तो जो गृहस्थ मुनिका उपासक हो उसने अपनेमें कैवल्यस्वरूपकी उपासनाका ही तो भाव बनाया।

भैया! आचरणमें साधुजनोंका आचरण निर्लेप अधिक रहता है और गृहस्थजनोंका आचरण बाह्य आलम्बन करते हुए रहता है। पर भावना यह रखनी चाहिए कि हे प्रभो! मैं कब कर्म कलंकोंसे छूटकर राग-द्वेषादिक भावोंसे मुक्त होकर जैसा मेरा स्वभाव है, स्वरूप है ऐसा केवल ज्ञाता द्रष्टा कब बन सकूँ, ऐसी अपनी भावना रखनी चाहिए। अपने शुद्ध आत्मतत्त्वमें स्थित होकर रागद्वेषादिक समस्त विभावोंके त्याग द्वारा इस स्वभावकी उपासना करनी चाहिए।

जाम सुहासुहभावडा णवि सयलवि तुट्टंति।
परमसमाहि ण तामु मणि केवुलि एमुभणंति ॥१६४॥

जब तक समस्त शुभ अशुभ भाव नहीं टूटते हैं तब तक मनमें परमसमाधि नहीं होती है, ऐसा केवली भगवान कहते हैं। यह ग्रन्थ है परमात्मप्रकाश। इसमें परमात्मतत्त्वका वर्णन किया गया है। अरहंत सिद्ध स्वरूपका वर्णन न करके आत्मामें जो स्वभावरूप परमात्मतत्त्व पाया जाता है उसका इसमें वर्णन है। तो जिस ग्रन्थमें जिसप्रयोजनको लेकर वर्णन होता है उसका उसी दृष्टिसे वर्णन सुना जाता है। यहां यह कहा जा रहा है कि तुम अपने सहजस्वरूपका कुछ भान तो करो कि मैं अपने सत्त्वके कारण अकेला हूँ कैसा ? यह निर्णय तब तक नहीं होने पाता जब तक किसी भी क्षण शुभ और अशुभ सर्व प्रकारके विकल्प नहीं टूटते हैं।

साधुजनोंके शुभ अशुभ भाव दूर होकर स्वानुभवके कारण वह परम-समताको प्राप्त होता है, फिर भी कदाचित शुभ अशुभ भावोंका संस्कार अबुद्धिपूर्वक अपनी योग्यतासे पड़ा रहता है, पर अनुभवतो होता है उस

का जिसमें उपयोग हो। इस ज्ञानी संतका कर्मोदयके निमित्तसे शुभ भाव भी पड़ा हुआ है संस्काररूपमें, फिर भी उपयोग किसी-किसी समय उस को ग्रहण नहीं करता और अपने शुद्ध ज्ञायकस्वरूपको ग्रहण करता है। इस प्रकार गृहस्थके भी अनेक कषाय विद्यमान् हैं और उनके उदयमें गृहस्थजनोंकी आत्मामें भी उस प्रकार का विभाव उठता है लेकिन जब वे किसी भी क्षण स्वानुभवकी ओर होते हैं तो उनका भी उपयोग उन कषाय भावोंसे बिगड़ता नहीं है, पर गृहस्थोंकी यह अनुभूति थोड़े समय को होती है और साधुजनोंकी अनुभूति अधिक समयके लिए होती है, पर वास्तविक आत्माका परिचय निज प्रभुताका दर्शन जब तक नहीं होता है तब तक प्रत्येक पदार्थ सम्बंधी विकल्प विश्रान्त नहीं होता।

आत्माका कैसा दर्शन करना ? क्या आंखोंसे आत्मा दीखेगा ? यह तो पद्धति नहीं है, फिर कैसे दर्शन करना ? ऐसा उपाय अपने ज्ञान द्वारा बनाएँ कि जब सब पदार्थ असार हैं, भिन्न है, विनाशीक हैं तब उन पर उपयोग देनेसे क्या लाभ है ? उनके राग करनेसे क्या लाभ होगा ? ऐसा ध्यानमें रखकर उन परपदार्थोंके विकल्पको छोड़ो। अपने आप ही यह मन विश्राम पायेगा और वहां आत्माका प्रभुका दर्शन होगा। आत्म-दर्शन करनेकी विधि यह ही है।

जैसे कोई इत्रका फुवा आपको दिखाये कि देखो इत्र कैसा है ? तो आप कैसे देखेंगे ? आंखें फाड़कर देखेंगे क्या ? उसको नाक पर लगाकर देखेंगे। हां भाई इत्र तो अच्छा है। अच्छा जो मिठाई सबसे अच्छी लगती हो उसका नाम लो। किसी ने कहा (एक लड़का ने कहा) आम अच्छा लगता है। खैर आम ही सही। आम तो मिठाई नहीं, पर मीठा है, चलो किसी ने कहा कि भाई देखो यह आम कैसा है ? तो क्या कोई उसे आंखें फाड़ फाड़कर देखेगा ? अरे उसे तो चूस करके ही देखा जा सकता है। तो आमके रसके जाननेकी पद्धति ही यह है कि उसे चखा जाय। अन्य किसी पद्धतिसे उसका स्वाद नहीं जाना जा सकता है। आपको रसगुल्ला कोई दिखाये कि देखो यह कैसा है तो क्या आप उसे आंखें फाड़फाड़कर देखेंगे ? आप तो उसे मुखमें डाल लेंगे। यदि वह कहे कि वाह हमने तो रसगुल्ला देखनेको दिया था, तुमने खा क्यों डाला ? अरे भाई रसगुल्ला देखनेका तरीका ही यही है। तो उस खानेकी चीजको देखनेका मतलब खानेसे है। तो कैसा है वह आत्मा ? उसे आखोंसे देखा नहीं जा सकता, हाथों से टटोला नहीं जा सकता, कानोंसे सुना नहीं जा सकता। आत्माके देखनेकी पद्धति ही यही है कि सर्व परपदार्थोंके विकल्पको छोड़कर मनमें

विश्राम लें तो अपने उस ज्ञायकस्वरूपका दर्शन हो जाता है।

भैया! जिसके जब तक समस्त शुभ अशुभ भाव नहीं टूटते तब तक चित्त रत्नत्रय रूपको प्राप्त नहीं होता। ऐसे परमसमाधि हो नहीं सकती है, केवली भगवान् ऐसा कहते हैं दुःख सुख, शुभ अशुभ भाव ये मेरे स्वभावरूप नहीं हैं, औपाधिक हैं, कर्म उपाधिका निमित्त पाकर हुए हैं। मैं तो परम आनन्द स्वभावी हू। इसका स्वरूप तो जानन और आनन्द है। उस स्वरूपसे अत्यन्त विपरीत ये रागादिक विकार हैं। सो ये शुभ अशुभ समस्त परिणाम जब तक नहीं छूटते तब तक इसके शुद्धोपयोग नहीं होता। परमसमाधि न होनेसे रत्नत्रयरूप परिणमन नही होता, क्योंकि इसका मन रागादिक विकल्पोंसे रहित नहीं बन पाता है। मन ही जब आकुलव्याकुल है, रागादिक भावोंसे घिरा पड़ा हुआ है तो वहां यह परमसमाधिका परिणाम कैसे ठहर सकता है? इस प्रकार केवल वीतराग सर्वज्ञदेव यह बात कहते हैं कि सर्व यत्न करके अपने आपके इस सहज स्वरूपको तो जान जावो।

यहां तक परमसमाधिका वर्णन किया गया है। अब इसके बाद अरहंतपदकी व्याख्या करते हैं। चाहे अरहत कहो, चाहे भावमोक्ष कहो, चाहे जीवनमोक्ष कहो, चाहे केवल ज्ञानमय कहो सब एकार्थक हैं। ये चार नाम अरहंत पदके कहे गये हैं—अरहत, भवमोक्ष, जीवनमोक्ष और चौथा ज्ञानोत्पत्ति।

सयलवियप्पहँ तुट्टहँ सिवपयमग्गि वसतु।
कम्मचउक्कइ विलउ गइ अप्पा हुइ अरहंतु ॥१९५॥

चारघातिया कर्मोंके नष्ट हो जानें पर यह आत्मा अरहंत होता है। कौन होता है? जो मोक्षपदके मार्गमें बसता हुआ समस्त विकल्पोंको नष्ट करता है। इस जीवके साथ ८ कर्म अनादिसे लगे चले आये हैं। श्रेणीकी अवस्थाको छोड़कर कोई अवस्था ऐसी नहीं है कि जहा आठोंके आठों ही कर्म जीवमे न हों। सिद्ध तो अलग है ही और अरहत भी चारघातिया कर्मोंसे दूर है पर श्रेणीमें जो क्षीण मोह अवस्था होती है, वहा पूरे आठ कर्म नहीं हैं। मोहनीयकर्मका अभाव हो गया और उससे नीचे सर्वत्र आठों कर्म प्रत्येक जीवमें पाये जाते हैं। उनमें से चार कर्म तो इस जीवके साक्षात् चैतन्यप्राणके घातके निमित्त हैं। आत्माका गुण है, ज्ञान, दर्शन, सुख और शक्ति। इस स्वभावका चारघातिया कर्मोंके निमित्तसे घात चल रहा है।

यद्यपि निमित्त अपने आपमें अपना परिणमन करता हुआ रहता

है, पर ऐसा ही इस विश्वका निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है कि उपादान उस रूप योग्य परिणमन वाला है तो उपाधिका निमित्त पाकर वह उस रूप परिणमता है। ऐसे निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धमें यह सारा जीव लोक अपने-अपने परिणमनको करता हुआ दुःखी हो रहा है। सो वे चार घातिया कर्म जब नष्ट हो जाते हैं तब अरहंतपद मिलता है। इसका नाम है अरहत। अरहतका अर्थ है पूज्य। अरहंतके ही लक्ष्यको लेकर प्रायः समस्त धर्मोंने उस प्रभुका स्वरूप समझा और कल्पना की। पर उस वीतराग सर्वज्ञस्वभावकी दृष्टि न रखकर केवल मेरा मालिक है, मेरा ईश्वर है, मेरा पीतम है—इन दृष्टियोंसे जाना। सो मूल दृष्टि छूटकर फिर नाना रूपोंमें भगवान् बन गया।

भैया! भगवान्के नामोंको देखो तो जितने भी भगवान्के नाम हैं वे सब नाम इस अरहतकी दशाको ही सूचित करते हैं। जैसे अरहत मायने पूज्य अथवा रागद्वेषादि शत्रुवोंका नाश करने वाले और लोग कहते हैं ईश्वर अर्थात् अपने ऐश्वर्यमें स्वतंत्र, समर्थ। कोई कहते हैं अल्ला। अल्ला शब्द बना होगा अल्य'से। संस्कृतमें एक धातु है अल्। अल् पूजाया। इसका कृदन्त रूप हुआ अल्यः। फिर इससे बिगड़ बिगड़कर अल्ला हो गया। तो जो अर्थ अरहतका है वही अर्थ अल्लाका हुआ। वही अर्थ, विष्णु, शिव और राम आदि नामोंका हुआ। तो जितने भी नाम हैं वे सब अरहत शब्दके वाचक हैं। पर स्वरूप दृष्टि छोड़ा तो भगवानके नानारूप बन गए। अरहंन स्वरूपकी यहां व्याख्या चल रही है। इसको फिर आगे कहेंगे।

चार कर्मोंके विनष्ट होने पर यह आत्मा अरहंत होता है। वे कर्म कौनसे हैं? ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय। इनका विनाश होता है तो इस क्रमसे होता है कि पहिले तो मोहनीयका नाश हुआ और फिर ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय— इन तीनोंका एक साथ नाश होता है। मोहनीयमें भी पहिले अनन्तानुबंधी चार और मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व, सम्यक् प्रकृति, इन सातोंका नाश होता है। फिर बादमें अप्रत्याख्यानावरण चार प्रत्याख्यानावरण चार इन आठोंका एक साथ नाश होता है। इसके बाद फिर नपुंसकवेद हास्यादिक ६ का नाश होता है। फिर स्त्रीवेद फिर पुरुषवेदका नाश हुआ, फिर सज्वलन क्रोध सज्वलन, मान संज्वलन, माया सज्वलन, फिर अंतमें लोभ संज्वलन का विनाश होता है। मोहनीय कर्म का तो यों फुटकर क्रमसे नाश होता है। उसके बाद यह आत्मा बारहवें गुणस्थानमें पहुंचता है और बारहवें

गुणस्थानके अंतमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन कर्मों का एक साथ नाश होता है। इस प्रकार जब चारघातिया कर्मोंका नाश हो हो गया तो केवलज्ञान उत्पन्न होता है।

यह जीव पहिले तो मुनि हुआ, सो मुनि अवस्थामें मोक्षपदके मार्ग में ठहरता हुआ रहा तो उस मोक्षमार्गके अभ्यासमें समस्त विकल्पोंका विनाश हुआ, पश्चात् अरहत अवस्था हुई। पचपरमेष्ठीमें सर्व प्रथम अरहन परमेष्ठीका नाम लिया। यद्यपि सबसे पहिले होते हैं साधु परमेष्ठी। कोई आत्मा सिद्ध नता है तो सबसे पहिले क्या होता है? साधु परमेष्ठी अथवा साधुओंमें जो विशेष पढ़े लिखे हैं, दूसरेको पढाते लिखाते हैं उनको आचार्य महाराज उपाध्यायका पद देते हैं। आजकल उपाध्याय देखनेमें नहीं आते। क्योंकि उपाध्यायके लिए विशेष ज्ञान चाहिए। जो अंग पूर्वों रूप है पर इस समय न अगज्ञान किसीके है और न पूर्वोंका ज्ञान किसी के है। सो उपाध्यायका तो पद तो नहीं रहा। पर उन साधुवोंमें जो मुख्य हुए हैं व्यवहारकुशल, सब नीति कुशल, शिष्योंको आत्माका पोषण करा सकें, ऐसी जिनमें योग्यता होती है वे कहलाते हैं आचार्य।

भैया! या तो आचार्य परम्परासे होते हैं। पहिले के आचार्योंने दूसरोंको आचार्य पद दिया, इस तरहकी परम्परासे आचार्य चलते हैं और कदाचित् किसी कालमें आचार्योंकी विच्छित्ति हो जाय वे किसीको आचार्यपद न दे सकें तो चतुर्विध सघ और उनमें मुख्यतया श्रमणसंघ किसी योग्य समर्थ साधुको आचार्यपद स्वीकार कराते हैं और तबसे आचार्य होते हैं। पर आचार्य, उपाध्याय और साधु ये—तीनों मुनि हैं, साधु परमेष्ठी हैं। वे आत्माका उत्कृष्ट ध्यान करके, सकल विकल्पोंको तोड़ करके केवलज्ञान उत्पन्न कर लेते हैं।

यद्यपि एक परिपाटीमें आचार्योंने बताया है कि वे अपने ही जीवन कालमें दूसरोंको आचार्यपद देकर और अपने उस व्यवहारसे निवृत्त होकर किसी दूसरे सघमें एक मुनिके रूपमें रहे और अंतिम साधना करे, पर कोई आचार्य ऐसा नहीं कर सके तो भी ऐसा दृढ़ भेदविज्ञान होता है कि आत्मध्यान तब भी उनके उत्कृष्ट हो सकता है जिससे वे केवलज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। यों दोनों ही प्रकारके व उपाध्याय सहित तीनों ही प्रकारके साधुजन अपने मोहका अत्यन्त क्षय कर लेते हैं। तो अरहंत होते हैं। तो दूसरा नम्बर हुआ अरहंतका, पहिला नम्बर हुआ मुनिका। इस मोक्ष मार्गके विकासके उपायमें इन तीनोंमें परस्परमें भेद नहीं है। व्यवहारकृत भेद है, पर अध्यात्मसाधुओंके इन तीनोंमें कोई भेद नहीं है। साधु,

आचार्य और उपाध्याय—इन सबके केवलज्ञान उत्पन्न हो सकता है।

तो पहिला पद हुआ गुरुपद और दूसरा पद हुआ अरहंतका। अरहंत भी केवलज्ञानी हैं और सिद्ध भी केवलज्ञानी हैं किन्तु सिद्धके निमित्तसे शास्त्रपरिपाटी नहीं चलती। अरहंतदेवके निमित्तसे शास्त्र-परिपाटी चलती है। उनकी दिव्यध्वनि होती है। गणधरदेव फिर उस ज्ञानका और विकास करते हैं। तो इस तरह अरहंतदेवसे शास्त्रपरिपाटी चलती है। इसी कारण अरहंतका नाम आता है। फिर अरहंत अवस्थाके बाद स्वयमेव समय पाकर अर्थात् जब आयुकी अंतिम समाप्तिका समय होता है तब वह सिद्ध हो जाता है। तो इनमें सबसे बड़ा हुआ सिद्ध। उनके न भावकर्म है, न द्रव्यकर्म है, न शरीर है जब कि अरहंतदेवके द्रव्यकर्म हैं और शरीर है।

ऐसे प्रभु सिद्धदेव तो सर्वोत्कृष्ट हैं, अन्तर बाह्यसे बिलकुल शुद्ध अवस्थामें हैं। परिपूर्ण दशा सिद्ध भगवानकी है, और उनकी सर्वप्रथम अवस्था प्राक् पदवीकी अवस्था परमेष्ठियोंमें गुरुवोंकी है। सो ये महामुनि मोहनीय कर्मका हनन करते हैं। इससे ज्ञानावरण और दर्शनावरणका भी हनन होता है और अन्तरायका भी अभाव होता है तब वह अरहंत होता है। अरहंतका अर्थ है जो पूजनेके योग्य हो। वे अरहंतदेव देवेन्द्रादिके द्वारा रचे हुए बड़े अतिशयवान् पूजाके पात्र हैं। जिनकी पूजा तीन लोकके सभी इन्द्र करते हैं।

भैया! चारघातिया कर्मोंका क्षय करके वे अरहंत देव हुए हैं। इससे पहिली दशा उनके मोक्षपदमें बसनेकी है, मोक्षपदके मार्गमें बसनेकी है। मोक्षमार्ग है सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र। इनमें बसते हुए समस्त विकल्पोंको तोड़ देते हैं और वे साक्षात् प्रभु अरहंत हो जाते हैं। अरहंतकी भक्तिसे पाप कट जाते हैं। यदि वीतराग भावके सहित प्रभुकी भक्ति हो, उनके गुणोंका अनुराग हो और उनके गुणोंकी महिमा जानकर अपने आपकी वर्तमान दशा पर पछतावा हो, तो वहां तो है प्रभुका पुण्यानुराग और यह अपने आपकी ओर वर्तमान दशाको देखता है तो अपनी पामर दशापर होता है पछतावा। तो ऐसे पछतावा व गुणानुराग सहित जो एक अपूर्व भक्ति होती है उस भक्तिमें भव-भवके पाप कट जाते हैं। ऐसी तीक्ष्ण भक्ति उन ज्ञानी संत पुरुषोंके होती है। जिसने आत्माके स्वभावका परिचय किया है और उस स्वभावके अनुरूप प्रभुकी प्रकट शुद्ध दशा है, ऐसा जिन्हें भान होता है उन पुरुषोंके ही प्रभुकी परमार्थ भक्ति होती है। इसी सम्बन्धमें और कहते हैं।

केवलणाणिं अणवरउ लोयालोउ मुणंति ।
णियमें परमाणंदमउ अप्पा हुइ अरहंतु ॥१९८॥

वे अरहत अब कैसे हैं कि केवल ज्ञानके द्वारा निरन्तर लोक और अलोकको जानते हैं। निरन्तर जानते हैं, एक साथ जानते हैं। जितनी तीन लोक, तीन कालके समस्त द्रव्य और पर्यायें हैं उन सबको ज्ञानी एक साथ जानता है। भूत, भविष्य, वर्तमान तीनोंकालके पदार्थोंको प्रभु अरहत एक साथ स्पष्ट जानते हैं। इसी कारण ऋषी संतोंने यह बताया है कि भूत भविष्यकी पर्यायें हो चुकी और होगी, पर केवलज्ञानके ये समस्त पदार्थ और उनका परिणमन सब वर्तमान है। जैसे किसी बोर्डपर भावी तीर्थङ्करोंका चित्र बनाया, संकेत बनाया या नाम लिखा और भूतकालके तीर्थंकरोंका चित्र बनाया या नाम लिखा और वर्तमान तीर्थंकरों का भी चित्र बनाया या नाम लिखा, पर उस बोर्डमें देखने वाले पुरुषोंमें वे सब वर्तमान हैं, इसी प्रकार अरहंत सिद्ध देवोंके तीनकाल, तीन लोकके समस्त परिणमन सदा वर्तमान ज्ञेय बताये गए हैं। [तो वे भगवंत केवल ज्ञानके द्वारा निरन्तर लोक और अलोकको जानते हैं और इसी कारण वे नियम से परमानन्दमय हैं।

भगवान् सर्वज्ञदेव तीन लोक और तीन कालकी समस्त वस्तुवोंको यथार्थरूपसे एक साथ जानता है। ज्ञानका काम जानन है। जानन किस का ? जो सत् हो उसका जानन। तो जाननस्वरूपके कारण जब यह जानता है तो जाननमें रुकावट क्यों है ? जाननमें रुकावट वहां होती है जहां निमित्तरूपमें तो ज्ञानावरणका उदय है और उपादानरूपमें आत्माके ज्ञानमें एक आच्छादन है, न्यूनता है, विकास नहीं है। जब वह क्रमसे जानता है, इन्द्रियोंसे जानता है और व्यवधान नहीं होता, साक्षात् होता, समक्ष होना तो जानता है, किन्तु भगवानके ज्ञानमें न तो क्रम है कि पहिले इसे जाने फिर इसे जानें। जाननेका न उनके क्रम है, न इन्द्रियोंकी आधीनता है और न उनके व्यवधानका कोई प्रभाव है। यह हम लोगोंके लिए है कि सामने कोई चीज हो तो जानते हैं।

जहां रुकावट है वहा सामना भी होता है। रुकावट और समक्षता ये दो प्रतिपक्षकी चीजें हैं। जहा रुकावट नहीं है वहा समक्षता क्या माने ? सर्व समक्षता है। तो सर्वज्ञदेवके ज्ञानमें कहीं इन्द्रियकी आधीनता नहीं और व्यवधान भी कहीं नहीं। ऐसा केवलज्ञानी अरहतदेव तीन लोक तीन कालके समस्त पदार्थोंको जानता है। काहेके द्वारा जानता है ? केवल ज्ञानके द्वारा जानता है ? जो लोक और अलोकका प्रकाश करने वाला है,

जो परिणमता है उसे उपादान कहते हैं और उस परिणमनमें जिन पर-उपाधियोंका सान्निध्य पाकर परिणमन होता है उन उपाधियोंको निमित्त कहते हैं।

निमित्त और उपादानके प्रसगमें जो नैमित्तिक कार्य होता है वह नैमित्तिक कार्य औपाधिक है, उपाधिका सन्निधान पाकर हुआ है, पर परिणमनकी स्थितिमें उपादानमें वह परिणति उपादानके आधीन है। जैसे यह हाथ सामने आ गया और चौकी पर छाया हुई यह जो छाया पड़ी है यह हाथकी है या चौकीकी है ? उत्तर दोनों आते हैं। निमित्तकी ओरसे उत्तर आता है कि छाया हाथकी है और उपादानकी ओरसे उत्तर आता है कि छाया चौकी की है। इस जगह छायारूप कौन परिणमा ? हाथ या चौकी ? जो छायारूप परिणमता है वह उपादान है। ऐसे निमित्तका सानिध्य होने पर भी हाथमें रहने वाला जो कुछ रूप, रस, गंध, स्पर्श है वह हाथसे निकलकर चौकीमें नहीं आया, यह खूब सामने दिख रहा है पर चूँकि इस प्रकारसे छायारूप परिणमन निमित्तके सान्निध्य बिना नहीं होता।

बलवान् ज्ञान वह है कि निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध भी जानकर वस्तुकी स्वतन्त्रताका अपलाप जहां नहीं कर सकते। इन दो बातोंमें जिस ओरकी एकातत दृढ़ता हो जाती है उसीको एकात कहते हैं। जैसे निश्चय एकान्त होता है उसी तरह व्यवहार एकात भी होता है और वादविवादकी चर्चामें यदि व्यवहारवादियोंके मुकाबलेमें कोई प्रतिपक्ष खड़ा हो तो उसको केवल निश्चयकी दृष्टि सूझती है। क्योंकि उसे व्यवहारवादीका मुकाबला करना पड़ रहा है और ऐसे ही जो निश्चय एकातवादी का मुकाबला करनेके लिए व्यवहारवादी खड़ा होता है तो उस समय उसे केवल व्यवहार ही सूझता है क्योंकि उसे निश्चय एकांतका मुकाबला करना है। जो प्रकृत्या जिस पक्षकी बात चल उठती है वहा दूसरेकी बात को कितनी दृष्टियों तक सही सोचनेका अवकाश नहीं देते। पर ज्ञान सबल वह है कि जहा सर्व बातें यथार्थ प्रतीत हो रही हैं।

जब वस्तुके प्रदेशमें से दृष्टि हटाकर बाह्य वातावरणकी ओर दृष्टि देते हैं तब यह सिद्ध है कि निमित्तका सन्निधान पाकर विकार उपादानने विकार परिणमन किया। निमित्तके अभावमें विकारपरिणमन नहीं हुआ, पर जो परिणम रहा है उस परिणमते हुए को ही, केवलको ही देखकर उत्तर देते हैं तो वहा यह उत्तर आता है कि यह उपादान अपनी परिणतिसे परिणमता है। उस दृष्टिमें दूसरेको देखनेका ध्यान ही नहीं

रहता है। तब न निमित्तके मण्डनका ध्यान रहेगा और न निमित्तके खण्डनका ध्यान रहेगा।

और भी दृष्टांत देखो। जैसे दर्पण हाथ मे लिए हुए हैं, पीछे चार लडके खडे हैं। दर्पण चार बालकों के प्रतिबिम्बरूप परिणम गया। अब यदि कोई केवल दर्पणको ही देखकर दर्पणमे होने वाली बातोंका वर्णन करे तो वह बतायेगा कि दर्पण अमुक रूप परिणम रहा है। उसकी दृष्टि केवल एक पदार्थकी ओर है। निश्चयदृष्टि का काम व्यवहार का खण्डन नहीं है और व्यवहारका मण्डन नहीं है। निश्चय दृष्टि तो एक पदार्थको दिखा देता है। यदि वह अशुद्ध परिणत है तो अशुद्ध परिणत दिखा देगा। इसे कहते हैं अशुद्ध निश्चयनय। और यदि शुद्ध परिणत है तो शुद्ध परिणत दिखा देगा। इसे कहते हैं शुद्ध निश्चयनय। और भी अन्तरङ्ग तीक्ष्ण दृष्टि करके वस्तुको देखा जाता है यहां शुद्ध अथवा अशुद्ध परिणमन पर भी निगाह ही नहीं होती। केवल वस्तुके स्वभावपर ही दृष्टि होती तो उसे वहां अखण्ड ध्रुव अहेतुक एकस्वभाव दृष्टिगत होता है। इसे कहते है परमशुद्ध निश्चयनय।

फिर जब एक ही वस्तुके देखनेका पासा पलटते है और उस वस्तुके बाहरके वातावरण पर दृष्टि देकर निर्णय करते हैं तब यहासे व्यवहारकी शुरुआत होती है। जब उसे विकारपरिणमनमें यह निर्णय होता है कि विकारपरिणमन निमित्तका सान्निध्य होने पर ही हो सकता है। यदि निमित्तका सान्निध्य न हो तो नहीं होता है। निमित्त मात्र किए बिना यदि उपादान विकार रूप परिणम जाता है तो वह उसका स्वभाव नहीं बन जायेगा। अब उसे यहां सारी तरफका कुछ निर्णय करो। ज्ञानी जीव सभी वर्णनोंसे लाभ उठाता है। यह परमशुद्ध निश्चयनयसे भी लाभ लेता है, अशुद्ध निश्चयनयसे भी लाभ लेता है। शुद्ध निश्चयनय के कथनसे भी लाभ लेता है और व्यवहारनयके कथन से भी लाभ लेता है।

जैसे जिसको कोई खेल करना है, कलाका काम करना अच्छा आता है, बहुत अभ्यस्त है, अभ्यस्त हो चुका है, तो उसका वह काम लीलामात्र में चलता है। जो पुरुष जिस चित्रको बनाना सीख रहा है, उस कलामें वह प्रवेश ही कर पाया कि उसमें तीव्र अभ्यस्त होकर पड़ा हुआ, डगमगाता हुआ टेढ़े, बैठे, खड़े कैसी स्थितिमें हो, लीलामात्रमें ही वह उस चित्रको बनाता है। अभ्यासकी यह बात है। इसी प्रकार जिसको वस्तुस्वरूपके यथार्थज्ञानका पूर्ण अभ्यास है और जानता है कि वस्तु विज्ञानमें मर्मभूत बात वह कौनसी है? जिसका आलम्बन लेनेसे यह जीव संसारसंकटों से

मुक्त होता है। जिसे उस तत्त्वका अनुभव होता है वह पुरुष इन चार प्रकार के नयोंके कथनसे प्रयोजनकी बात निकाल लेता है।

ज्ञानी नयोंके कथनसे क्या प्रयोजन निकालता है? परम शुद्ध निश्चयनयमें उपादेय तो सीधा प्रयोजन पड़ा हुआ है। हमको जानना है ध्रुव अनादि अनन्त अहेतुक स्वाभावको। जो कि ध्रुव है, जिस पर क्रिया हुआ उपयोग सकल्प विकल्पका संहारक है। अशुद्ध निश्चयनयसे क्या प्रयोजन निकाल लेता है? वह केवल एक वस्तुको देख रहा है, अशुद्ध परिणत वस्तुको देख रहा है। भले ही वह अशुद्ध परिणत वस्तुको देख रहा है किन्तु वह अभी निश्चय दृष्टिमें ही स्थित है। उसके प्रभावक बात तो यह उत्पन्न होती है कि आश्रयभूत परपदार्थों पर उसका उपयोग नहीं है, जिसका आश्रय लेनेसे विषय कषायोंमे भाव प्रबल होता है, क्योंकि वह इस समय एक को देखनेमे ही लगा है, तो आश्रयभूत परपदार्थोंका आश्रय न होनेसे रागादिक विकल्पोंको जागृति नहीं मिलती है। वे दूर तो जाते हैं। यह तो उसके जीवनमें जो निश्चयदृष्टिसे वस्तुको निरख रहा है एक प्रभाव पड़ता है।

और, इस निश्चयकी प्रक्रियामें उसको इस बातके लिए उत्साह मिलता है कि वह उस पर्यायको उस द्रव्य के गुणोंके सम्मुख ले जायेगा क्योंकि वह एकको ही देख रहा है। जहा यह उत्सुकता हुई यह पर्याय किस गुणसे निगत है, गुण दृष्टि हुई और वह गुण जो कि स्वतत्र सद्भूत एक नहीं है तब उस गुणका अभेदरूप आधार बास्तवश्रोत क्या है? वह है द्रव्य तो एक ही वस्तुके देखनेके प्रसगमें यों द्रव्य तक पहुचन बन जाता है। उस ज्ञानीने अशुद्ध निश्चयसे यह लाभ लिया। यहा ध्रुवका अर्थ है स्वभाव। अवस्था ध्रुव नहीं होती है। तो इसे एक कुछ भी किसी ओरकी दृष्टिको रखकर नहीं सुनता, किन्तु जिस दृष्टिको आपको बताकर कहा जाय कि जरा इस स्थानमें खडे होकर तो देखिए क्या दिखना है? इस तरहसे देखते चलें तो आपको उन आशयोंसे यह विदित होगा कि ज्ञानी जीव सर्व कथनोंसे कैसा अपना लाभ उठाता है?

शुद्ध निश्चयनयमें यह देखा जाता है कि प्रभु सर्वज्ञदेव अनन्त चतुष्टय विराजमान्, अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख, अनन्त शक्तिका पुञ्ज है। वह विकास शुद्ध विकास है, इस दृष्टिमें यह बात नहीं देखी जा सकती है कि यह कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न होता है। दृष्टिकी सीमा है। निश्चय दृष्टि उसे कहते हैं कि केवल एक को देखो। एक ही पदार्थको देखते हुएमें जा आशय बनता है उसकी चर्चा इस प्रसगमें है। जैसे कि

अशुद्ध निश्चयनय वालेने यहा आत्मपदार्थको राग-परिणत देखा। तो शुद्ध निश्चयनयकी दृष्टिसे उस आत्मपदार्थको ज्ञानसम्पन्न निरखते हैं। सो और भी अधिक सुगमता है कि वह पर्यायसे और भीतर चलकर द्रव्यस्वरूप पर पहुचा दे क्योंकि शुद्ध निश्चयनयने जिस पर्यायमे परिणत देखा, वह पर्याय स्वभावके अनुरूप है। इसलिए पर्यायका स्रोतभूत गुण का अभेद आधारभूत आत्मद्रव्य भी शीघ्र उसे प्राप्त होता है।

अब व्यवहारनयकी बात देखिए। व्यवहारनयका आश्रय तब बनता है जब एक वस्तुकी स्वरूपदृष्टि न करके उसके वातावरणका निर्णय किया जाता है कि आखिर हुआ क्यो यह विकारपरिणमन? तो वहां यह ज्ञात होता है कि नाना प्रकारके वे ही कर्म जो पूर्वमें परिणामका निमित्त पा करके बध कर लिया है उन कर्मोंके उदयका निमित्त पाकर यों विकार होता है। इस व्यवहारनयके कथनसे ज्ञानी क्या लाभ लेता है कि ये विकार मेरे स्वभाव नहीं हैं, मेरेसे इनका अन्वयव्यतिरेक सम्बध नहीं है। उसके होनेके कारण विकार हुआ और उसके न होने पर विकार न हुआ ऐसा आत्माका और विकारोंका अन्वयव्यतिरेक सम्बध नहीं है। कब ऐसा समय आयेगा जब दुःखोंका अभाव हो और विकारोंका भी अभाव हो। आत्माका कभी अभाव नहीं होता। आत्माके ही नाते यदि विकार होते तो ये स्वभाव बनते और सदा रहते हैं। किन्तु इन विकारोंका अन्वयव्यतिरेक सम्बध कर्मोदयके साथ है। कर्मोदय होने पर ही ये विकार होते हैं, कर्मोदयका अभाव होने पर ये विकार नहीं हुआ करते हैं। इस कारण ये विकार मेरे स्वभाव नहीं हैं,। औपाधिक हैं, परभाव है, ऐसा परिज्ञान करके उनसे उपेक्षा करनेमे लाभ होता है। जब ये विभाव नहीं होते तो मैं इनमें आत्मीयता क्यों करू और इनमें उपयोग फँसाकर क्यों अपने आपके जन्म मरण बनाऊ? इस तरह वे विभावोंसे उपेक्षा पानेका उत्साह प्राप्त करते हैं।

इस तरह ज्ञानी जीव जिसको वस्तुस्वरूपका दृढ़ विश्वास है वह सर्वकथनोंसे अपने आपके स्वभावका आश्रय करनेका लाभ लूटता है। केवल ज्ञानी प्रभु जिसका कि स्वाभाविक परिणमन चल रहा है उन परिणमनोंमें जब पूर्व समयका परिणमन था वहा तो कर्मोंके क्षयका निमित्त था। पर उसके बाद जितने उत्तरोत्तर परिणमन चल रहे हैं वे धर्म अधर्म आदिक द्रव्योंकी भाति कालद्रव्यको निमित्त पाकर, अपने आपके अगुरुलघुत्व गुणकी वृद्धि हानिके द्वारा अपने आपमे परिणमते रहते हैं, ऐसा शुद्ध परिणमन है। केवलज्ञानी भगवान निरन्तर एक साथ

स्पष्ट समस्त विश्वको जानते हैं। वे भगवान वीतराग परम समरसीभावरूप तात्त्विक परम आनन्दमय हैं, इसमें रंच सदेह न करना। इसी विषय को और भी दोहेमें कहते हैं।

जे जिणु केवलणाणमउ परमाणंदसहाउ।
सो परमप्पउ परमपरु सो जिय अप्पसहाउ ॥१९७॥

जो जिन है, केवल ज्ञानमय है, परमानन्दस्वभावी है वही परमात्मा है। जो परममें परम है, उत्कृष्टोंमे उत्कृष्ट है ऐसा तो है प्रभुका व्यक्त रूप और ऐसा ही है सर्व आत्मावोका स्वभावरूप स्वभावका वर्णन और व्यक्त विकासका वर्णन एक शब्दमें होता है। जैसे प्रभु निरञ्जन है, तो आत्माका स्वभाव निरञ्जन है, जितनी विशेषताएँ, महत्ताएँ आप प्रभुको कहेंगे उतनी विशेषताएँ और महत्ताएँ आत्मस्वभावको कहेंगे।

गर्म जल हो गया हो जाने दो, पर लोकव्यवहारमे जब आपसे पूछेंगे कि जलका स्वभाव कैसा होता है तो आप गर्म कह देंगे। आप कहेंगे ठडा होता है। अच्छा यह पानी ठडा है तो उसके सिरमें डाल देवें। जो खौलता हुआ पानी है वह जला देगा या ठडा करेगा। वह गर्म परिणत है, किन्तु उसके अन्दर स्वभाव ठडा पड़ा हुआ है, वह ठडा परिणमान गर्म परिणमानसे तिरोहित है, मगर शक्ति सदा रहती है। कोई द्रव्य शक्ति कभी हो, कभी न हो ऐसा नहीं होता। यह पानीका एक दृष्टात मात्र है। पानी कोई द्रव्य नहीं है जिससे कि उसका स्वभाव बताया जाय। पर दृष्टातमें पानी को द्रव्य मान करके कथन करें तो उसका स्वभाव ठंडा लोकव्यवहारमें है।

इसी प्रकार आत्मा इस समय तिर्यञ्च है, निगोद है, कीड़ा है, नारकी है, दो इन्द्रिय आदिक है। है, वर्त रहा है, पर ऐसी कुयोनिमें वर्तता हुआ जीवका स्वभाव कैसा है? यह स्वभाव वहा भी वह बताया जायेगा जो सिद्ध प्रभुके बारेमें बताया जायेगा निरञ्जन, निर्विकार शाश्वत। वही आत्मामें लगाते जावो। पर भगवान्में परिणमन आता है, स्वभाव नहीं आता है। तो वही स्वभाव है और आपमें स्थित है। हम दूसरे जीवोंके स्वभावकी तो चर्चा कर लें, प्रभुवत् स्वरूप है इनका, उन जीवोंसे क्या हम अलग हैं? अपने आपके स्वभावकी चर्चा, स्वभावकी दृष्टि, स्वभावके ज्ञानका यत्न करें तो यह तो एक कल्याणका साधन है। करनेका काम तो निरन्तर यह ही है और नहीं है दूसरा। पर दूसरा करते क्यों हो? विषय कषाय, अशुभोपयोग, विकल्प ये क्यों करते हो? करने का तो यही काम है। पर करनेमें आ रहे हैं ये विषयकषायादिक भाव।

तो जब ये आ रहे हों जिस स्थितिमें, उस स्थितिमें इसके धारण करनेके लिए शुभोपयोग होना है। और शु.ोपयोगमें रहते हुए ज्ञान शुद्धोपयोग की दृष्टिमें रखना है। यह है ज्ञानीका कार्यक्रम।

भैया! अशुभोपयोगके बाद शुद्धोपयोग किसीके नहीं होता। शुभोपयोगके बाद शुद्धोपयोग होता है। पर शुभोपयोगके बाद शुद्धोपयोग उनके हो सकता है जो शुभोपयोगमें रहकर भी शुद्धोपयोगका लक्ष्य रखते हैं, दृष्टि बनाते हैं। तो इस तरह जो पहली पदवीमें रहने वाले जन हैं उनमें व्यवहारका आलम्बन अधिक होता है और निश्चयका आलम्बन कदाचित् होता है। वे ज्ञानी व्यवहारमें रहकर भी दृष्टि रखते हैं आत्मस्वभावकी और जैसे उनका विकास होता है वैसे ही उनके व्यवहारका आलम्बन कम होता है और पश्चात् ऐसी स्थिति आती है कि व्यवहारका आलम्बन कतई नहीं रहता है, एक निश्चयका ही आलम्बन रहता है। पश्चात् ऐसी स्थिति होती है कि निश्चयनयका आलम्बन भी छूटता है और यथार्थ जैसा स्वरूप है वैसा परिणमन होता है, वह ही परिणमन अरहत प्रभु का है।

प्रत्येक जीव शांति चाहता है शान्तिका यत्न करता है, किन्तु शान्ति नहीं मिलती। खूब सोच लो, जितना परकी ओर झुकाव होगा उतनी ही शांति दूर भागेगी। क्योंकि परकी ओर लगायी ना दृष्टि और वह पर तो पर ही हैं। वे अपने आपके रूपमें ही परिणमेंगे। मेरी इच्छा से तो परिणमेंगे नहीं। सो उनसे शांति न प्राप्त होगी। शांति तो मात्र अपने स्वभावके ध्यानसे होगी। सो स्वभावके ध्यान करनेके लिए हमारी दो जगह दृष्टि जानी चाहिए। एक तो परमात्मामें अरहत सिद्धके स्वरूपमें जैसा कि वह अनन्त ज्ञानधारी है, अनन्त शक्तिसम्पन्न है उस स्वरूपमें दृष्टि आवे। जो उनके गुणोंका प्रताप है उसका ध्यान करे और अपने स्वभावका भी ध्यान करे निज आत्माका ध्यान—करे, निज आत्माका ध्यान और परमात्माका ध्यान दो ही बातें शांतिके लिए आवश्यक हैं।

भैया! परमात्माका जैसा स्वरूप है वैसा ही स्वरूप निज आत्माका है। अन्तर यह है कि परमात्माका स्वरूप तो व्यक्त है, जैसा कि स्वभाव है और इस निज आत्माका व्यक्त स्वरूप परिणमन और भेद चल रहा है। और स्वभाव वैसा ही है जैसा कि प्रभुका है। प्रभु केवल ज्ञानमय हैं, समस्त चराचर विश्वको अपने ज्ञानसें जानता है। केवल ज्ञानका स्वभाव इस आत्माका भी है और परमात्माका भी है। इसी कारण आत्माके ध्यानकी सगति परमात्माके ध्यानसे बैठ जाती है। वह प्रभु परम आनन्द

स्वभाव वाला है और यह आत्मस्वभाव भी परम आनन्दस्वभावी है। ऐसा वह परमात्मा है जो समस्त परम पदार्थोंमें परम है और ऐसा ही आत्माका स्वभाव है। भगवानका आनन्द कैसा है कि इन्द्रियके विषयोंसे अतीत है। आनन्दमय निज आत्माके दर्शनसे सहज उत्कृष्ट निश्चल, अविनाशी आनन्द प्रकट होता है, वह स्वात्मोत्थ है, अपने आत्मासे ही उठा हुआ आनन्द है, परपदार्थोंका विषय बनाकर जो आनन्द उठा है वह पराधीन आनन्द है। उनका आनन्द स्वाधीन है रागादि विकल्पोंसे रहित है और जो लौकिक जनोंका आनन्द है वह रागादिक विकल्पोंसे परिपूर्ण है।

जैसा प्रभुका परम आनन्द स्वभाव है और वैसा ही निज आत्माका स्वभाव है। परमात्मा कहते हैं पर-मा-आत्मा। पर मायने उत्कृष्ट, मा मायने लक्ष्मी ज्ञानादिक लक्ष्मी जिसके उत्कृष्ट हो गई हो उस का नाम परम है और परम आत्माका नाम परमात्मा है। परमात्मा शब्द ही यह साबित करता है कि अन्य आत्माओंसे इसका उत्कृष्ट ज्ञानविकास है। आत्मा वही है, वैसा ही है जैसे कि अन्य आत्मा हैं। स्वभाव वही है पर जिनके स्वभावका उत्कृष्ट विकास हो गया है। उसे कहते हैं परमात्मा। उत्कृष्ट अनन्तगुण आदिक गुणोंरूप जिसके लक्ष्मी प्रकट हुई है ऐसा परमानन्द वीतराग सर्वज्ञदेव आत्माका स्वभाव ही तो है। जो आत्माका स्वभाव है वही तो प्रकट हुआ है। यहा यह जानना कि जो भगवान बताया गया है वीतराग सर्वज्ञ रागादिकसे परे वैसा ही का वैसा है।

संसार अवस्थामें निश्चयनयसे केवलज्ञान शक्तिरूपसे जो सब जीवोंमें मौजूद है। भगवानमें वह बात प्रकट हो गई। केवलज्ञानकी अवस्था में स्वाभाविकतारूप है। उस स्वरूपको परमब्रह्म आदिक शब्दोंसे बोलते हैं। निश्चयनयसे सब जीव जिनस्वरूप हैं और जिन भी सर्वजीव-स्वरूप हैं। स्वभावपर दृष्टि दें तो सब जीव भगवत् स्वरूप हैं और भगवान सर्व जीवस्वरूप हैं। स्वभावपर दृष्टि देकर इस बातको देखते हैं तो समझमें आयेगा। यह मर्म वही जान सकता है जो आत्माके चैतन्य स्वभावके अवलोकनके द्वारा स्वयं समतापूर्ण बन सकता है। समताभावमें स्थित वह जीव मर्मको जानता है कि सब जीव जिनवर है और जिनवर सर्व जीवस्वरूप हैं।

स्वरूपका जानने वाला आत्मा इस तथ्यके जाननेके साथ समता-परिणाममें आ जाता है। अब किसका बुरा करना, किसका भला करना, जगत्‌मे कौन शत्रु है और कौन मित्र है? स्वरूपका जानने वाला सर्वत्र

समतापरिणामको प्राप्त होता है। ऐसे ही समतापरिणामी जीव निर्वाण को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार यहां तक कई कथनोंके द्वारा अरहंत भगवानके स्वरूपका कथन किया गया है। अब इसके बाद परमात्म प्रकाशक शब्दके अर्थके कहनेकी मुख्यतासे व्याख्यान किया जाता है।

समलहँ कम्महँ दोसहँ वि जो जिणुदेउ विभिण्णु।
सो परमप्पपयासु तुहु जोइय णियमें मण्णु ॥१९८॥

समस्त कर्मोंसे और क्षुधा आदिक १८ दोषोंसे रहित जो जिनेश्वर देव हैं उनको हे योगी! तू परमात्मप्रकाश निश्चयसे मान। परमात्मप्रकाश इस ग्रन्थका भी नाम है, और यहां शब्दोंका यथार्थ अर्थ भी लगता है कि जो समस्त कर्मोंसे दूर होते हैं वे परमात्मप्रकाश यानि परमात्मतत्त्व के सर्वथा प्रकाशरूप हैं। ऐसा तुम निश्चयसे मानो। कैसा है वह परमात्मप्रकाश कि समस्त कर्मोंसे पृथक् है। केवल कर्मोंसे ही पृथक् नहीं किन्तु दोषोंसे भी पृथक् हैं। समस्त कर्म कैसे हैं कि परमात्मस्वरूपसे अत्यन्त जुदा है। परमात्मस्वरूप हैं आनन्द का और जिसमें तृप्त रहने पर ये सर्व कर्म क्षय किये जाते हैं। पुद्गलकर्मका बंध होता है रागादिक सहित अवस्था होने पर। शुद्ध सहजआनन्दकी जब जिसे खबर नहीं होती है, तब जीव मोह और रागमें बढ़ता है। ऐसे समस्त कर्म हैं जो अपने आपका घात करते चले जा रहे हैं। उन कर्मोंसे भी भिन्न यह परमात्मप्रकाश है।

एक यह प्रभु कर्मोंसे ही अलग नहीं है किन्तु टंकोत्कीर्णवत् निश्चल एक ज्ञायकस्वरूप परमात्मतत्त्वके प्रच्छादक जो दोष हैं, जन्म जरा मरण आदिक हैं, वे भी नहीं हैं। जैसे टांकीसे उकेरी गई प्रतिमा है पाषाण की तो वह चलित नहीं होती अर्थात निश्चल होती है। इसी प्रकार यह ज्ञायकस्वभाव आत्माका निश्चल होता है, इसका जिसने आश्रय किया वह संसारसे पार हो जाता है। यों वह सिद्धप्रभु कर्मोंसे रहित हो जाता है और गुणोंके प्रच्छादक जो दोष हैं उन गुणोंसे भी भिन्न हो जाता है, ऐसा यहां अभिप्राय कहा गया है। अब और भी अभिप्राय बतलाते हैं परमात्मस्वरूपके सम्बंधमें।

केवलदंसणु णाणु सुहु वीरिउ जो जि अणंतु।
सो जिणदेउ वि परममुणि परमपयासु मुणंति ॥१९९॥

वह ज्ञानी होता है, परमज्ञानप्रकाश जिसके मौजूद है। ऐसा वह परमप्रकाशरूप ज्ञान, दर्शन, सुख शक्तिरूप है, केवल ज्ञानादिकचतुष्टयरूप है, वह एक साथ अनन्त द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावका ज्ञाता होनेसे अवि-

नश्वर है। वह प्रभुस्वरूप आनन्दमय है। यहां भगवान की महिमा जान-कर ऐसा परिणाम करे कि हे प्रभु जिस मार्गसे चलकर आप मुक्त हो गए हैं उस ही मार्गसे चलकर हमे दर्शन हो। भगवानने गृहस्थजनोंके लिए सीधे शब्दोंमें मार्ग बताया है--गृहस्थजनोंके ६ कर्तव्य बताये गए हैं। उन्हीं ६ कर्तव्योंमें से एक देवदर्शन है। देवदर्शनमें कहीं पाषाणके दर्शन नहीं किए जाते, किन्तु मंत्रसिद्ध मूर्तिके समक्ष जो साक्षात् अरहंत हुए हैं उनका स्मरण किया जाता है, कोई यह कि वैसे ही स्मरण क्यों नहीं कर लेते? तो गृहस्थजनोंको नहीं ख्याल रहता तो उनके ख्याल बनाने के लिए यह मूर्ति दर्शन है, पर उस दर्शनमें जैसा परमात्मप्रभुका अवलोकन हुआ वैसा ही करे तो दर्शन सफल है।

गुरूपास्ति--गुरुओंकी सेवामें रहना, उनकी वैयावृत्ति करना और उनसे ज्ञान सीखना यह आवश्यक है। गुरुवोंकी उपासना करना भी श्रावक का प्रतिदिनका कर्तव्य है। अब नहीं मिलते आजकल तो अपने भाव ही ऐसे बनाएं कि कर्तव्य तो यह रोजका है। स्वाध्याय भी प्रतिदिनका कर्तव्य है। जब जीव आकुल व्याकुल होता है तो ज्ञान ही उसको मदद देता है। उसके रिश्तेदार लोग मदद नहीं देते हैं। खुदमें ही ज्ञान जगे तो आकुल-ताएँ व्याकुलताएँ समाप्त हो जाती हैं। परद्रव्योंके आलम्बनसे तो क्षोभ ही होना है। अपनी इन्द्रियोंको रोक लेना यह एक सयम है। तप जीव को निरोध कर देता है। कोई इच्छा मत आए। मैं परमविश्रामसे यहीं रहूगा, ऐसा भाव इच्छाके निरोध होने पर होता है और अंतिम कर्तव्य है आवकका दान देना। किसी न किसी रूपमें किसी न किसी मतके लिए अपने कमाये हुए धनमें भी हर्षपूर्वक अपने हाथसे दान करना चाहिए। ये ६ आवश्यक कर्तव्य हैं। इन कर्तव्योंको निभाता जाय और दृष्टि परमात्माकी ओर लगाए रहे तो शाति मिलेगी और इस शातिके प्रतापसे कर्मोंका क्षय होगा। अपने कर्तव्योंमें सावधान रहें और जितना हो सके इन्हीं कर्तव्यों द्वारा प्रगति करें, यही अपना एक काम है।

जिनदेव किसे कहते हैं? केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य ये जिसके पाये जाये उसका नाम है जिनदेव। ज्ञान, दर्शन, आनन्द, शक्ति सब जीवोंमें हैं। किसीमें कम है, किसीमें ज्यादा है, किसी में सर्वोत्कृष्ट है। जिसमे सर्वोत्कृष्ट है वह जिनदेव है। अरहंत कहो, जिन देव कहो, केवलज्ञान कहो, ये सब निर्दोष आत्मा हैं। ऐसे जो परममुनि हैं उन्होंने यह बात बताई है। वह परम प्रकाश कैसा है जिसको जानने वाला प्रत्यक्ष ज्ञानियोंने यह सब मर्म बताया है। वह परम प्रकाश है लोक

और अलोकमें प्रकाश करने वाला। ऐसा केवल ज्ञान जिसके होता है उसे केवल ज्ञानी कहते हैं।

प्रभु अनन्त है, जो एक साथ अनन्तद्रव्य, अनन्तक्षेत्र, अनन्तकाल और अनन्तभाव जो जानता है, वह अविनश्वर है, वही अनन्त है। उसको परमात्मा कहते हैं। वही अनन्त है। ऐसे सभी परमात्मा अनन्त हैं। अनन्तका अर्थ है अविनाशी। ो परमात्मा अपनी सिद्ध दशाको अनन्त-काल तक बनाये रहता है और अनन्तविकास होनेसे परमात्माका नाम अनन्त है और अनन्त गुणोंके प्रकट होनेसे वह परमात्मा भी अनन्त है। ऐसा अनन्तज्ञाता, अनन्तद्रष्टा, अनन्त आनन्दमय, अनन्त शक्तिमय जिनेन्द्रदेव है।

जो परमप्पउ परमपरु हरि हरु बंभु वि बुद्ध।
परमपयासु भणंति मुणि सो जिणदेउ विसुद्ध ।।२००।।

जिस परमात्माको मुनि परमपद हरि, महादेव, ब्रह्मा, बुद्ध और परम प्रकाश, इन नामोंसे कहते हैं वही परमात्मा विशुद्ध जिनदेव है। जिन, शिव, ईश्वर, ब्रह्मा, राम, विष्णु बुद्ध, हरि जिसके नाम हैं, इन शब्दों का जो अर्थ निकलता है वह अर्थ जिसमें पाया जाता है उसे जिनदेव कहते हैं। जैसे जो रागादिक शत्रुओंको जीते उसे जिन कहते हैं। शिव जो याणमय है, आनन्दमय है उसे शिव कहते हैं। ईश्वर जो अनन्त वर्यका स्वामी हो, अपने ऐश्वर्यमें समर्थ हो उसे ईश्वर कहते हैं। प्रभु ज्ञान जो विकसित होता है वह उनके आत्मासे ही विकसित होता है। ममें इन्द्रिय आदिकी आधीनता नहीं है, इस कारण अरहंतदेव स्वयं वर कहलाता है। विष्णु जो अपने ज्ञान द्वारा समस्त लोकालोकमें ाप जाय उसका नाम विष्णु है। सर्वज्ञदेवका ज्ञान लोकमें फैला है ौर अलोकमें फैला है। भगवान अलोकमें नहीं जा सकता है, वह सिद्धा-य तक ही रह जाता है। पर उनका ज्ञान लोकमें भी जाता है, अर्थात् ; लोक और अलोक सबको जानता है।

ब्रह्मा जो अपनी सृष्टिको करदे उसे ब्रह्मा कहते हैं। अपनी सृष्टि ात्माकी केवल ज्ञानप्रकाश मात्र है। प्रभु अरहंतदेव निरन्तर ज्ञान वलामकी सृष्टि कर रहे हैं। इसलिए प्रभु जिनेन्द्र ब्रह्मा है। दूसरे अरहत वने दुनियाको मोक्षका मार्ग बताया है, मोक्षमार्गकी सृष्टि की है। ।द्यपि बड़ा है सिद्धपरमेष्ठी, पर सिद्धपरमेष्ठी [illegible] के ।ार नहीं होता, अरहतदेवके माध्यमसे प्रभुता [illegible] और गणधरोंने उसे पहिचाना। यही परम्परा [illegible] आयी है।

देखो भैया ! जैन सिद्धान्तके पूजामें पाठमें, ध्यानमें, त्यागमें किसी भी जगह हिंसाका नाम नहीं है। किसी भी जगह स्वरूपके विरुद्ध कल्पना का नाम नहीं है। दशलाक्षणी पर्व है, वह आत्माके दश गुणोंका प्रकाश करनेके लिए है। अष्टाहिका पर्व है वह जिनेन्द्र भगवानकी उत्साहके साथ भक्ति करनेके लिए है। रक्षाबन्धन पर्व है वह यह सिखानेके लिए आता है कि जैसे विष्णुकुमारने ७०० मुनियोंकी रक्षा की थी, इसी प्रकार सधर्मी जनोंका कर्तव्य है कि अपने तनसे, मनसे, धनसे, वचनसे सधर्मी जनोंकी सेवा करें, रक्षा करें। इसलिए रक्षाबन्धन पर्व होता है दिवालीका पर्व यह ध्यान दिलानेके लिए आता है कि भगवान वीर प्रभुने इस दिन प्रातः काल चार अघातियाकर्मोंको दूर करके निर्वाणपद पाया था। हम भी यह भावना भायें कि उनकी भक्तिके प्रसादसे हम भी इसी प्रकार निर्वाण पदके पात्र हों। जितने पर्व आपके आते हैं, जितने पूजा पाठ आपके चलते हैं वे विशुद्ध आत्मविकास और अहिंसा पथके उपदेशके लिए चलते हैं।

जिन्हें आज लोकमें अनेक देवी देवतावोंके नाम कहते हैं वे हजारों देवता अरहत प्रभुकी सेवा किया करते हैं। जब स्वर्गोंके इन्द्र भी प्रभुके सेवक हैं तो अन्य देवी देवतावोंकी बात क्या कहें? ये देवी देवता भी जिन्हें सीतला भवानी आदिकके नामसे कहते हैं ये सब भगवान् की सेवा किया करते हैं। जो नहीं रहते हैं वे इन सेवक देवतावोंसे भी हलकी जाति के हैं। प्रभुके सेवक देवतावोंकी वे सेवा किया करते हैं। तो जैसे लोक-व्यवहारमें अपन कहते हैं कि कोई मदिरका निर्माण कराता है, या कोई कार्य जैसे बड़ा ऊँचा ऊँचा स्कूल खोलता है तो वह किसी बड़े को यदि पकड़ेगा तो उसका काम सिद्ध होगा। तो ऐसा बड़ा कौन है जो अपने को और धर्मके काममें जिसको पकडे तो अपना काम हो? वह है केवल उत्कृष्ट सर्वोपरि देवाधिदेव अरहत परमात्मा और जब कोई सकट आए तो एकका सहारा लें। भिन्न भिन्न नानाका सहारा लेनेसे काम नहीं बनता।

यह भूल है कि हमने अमुक देवको माना तो हमारा कार्य सिद्ध हुआ। ये सब मान्यताएँ तो आत्माके विकासको रोकती हैं। इस कारण इतना दृढ श्रद्धान् रहना चाहिए कि जो वीतराग सर्वज्ञदेव है वही हमारा देव है। कोई सकट आए तो हमें उस देवकी ही आराधना रहे और हमारा कोई गुरु है तो जो सयमधारी है, आरम्भ परिग्रहसे रहित है, कषाय वषय जिसके उत्पन्न नहीं होता, आत्माके ध्यानमें मग्न है ऐसा निर्ग्रन्थ साधु हमारा गुरु है और शास्त्र हमारा वही है जिस शास्त्रमे निर्वाणपद

की सिद्धिका उपदेश दिया गया हो। विषय कषायोंके त्यागकी विधि बतायी गयी हो, त्यागकी महिमा बतायी गयी हो वही हमारा शास्त्र है।

वीतरागतासे विपरीत जो देव हैं, जो बड़ा आरम्भ परिग्रह रखे हो, राजपाट चलाता हो, विचित्र भेष रूपा बना रखा हो, ऐसे स्वरूप वाला कोई हमारा देव नहीं हो सकता है। जहां निःशल्यता, कृतकृत्यताका धारी बताया गया हो वही हमारा देव है। दृढ़ श्रद्धान रहेगा तो चाहे संसारमें कार्य न भी बने मगर हमारे मोक्षका कार्य तो नियमसे बनेगा और जिसके मोक्षका कार्य बनता है उसके संसारका कार्य अपने आप सामने आता है। जो गेहूं उत्पन्न करता है उसके भूसा अपने आप सामने आता है। ऐसा जानकर एकचित्त होकर, एक दृढ़ श्रद्धान बनाकर यह अपना परिणाम रखें कि अरहंत जिनेन्द्रदेव और निर्ग्रन्थ गुरु और यथायोग्य अन्तः संयमी जन, ये हमारी उपासनाके योग्य हैं।

भैया! देव गुरु तो उपास्य ही हैं और अन्य सधर्मीजन यथायोग्य उपासनीय हैं, इसके अतिरिक्त किसी देवी देवतामें ध्यान मत लगावो, यदि किसी अन्य देवी देवतामें अपना ध्यान जाता है तो वह अज्ञानताका बढ़ाना है, उससे पुण्य भी समाप्त हो जाता है। यह सोचना भ्रम है कि मैं किसीको सुखी दुःखी कर दूंगा। खुदकी कमायी तो खुदको ही भोगनी पड़ेगी। अपनेको दुर्गतिसे यदि बचाना है तो अपना परिणाम निर्मल हो, अपना श्रद्धान निर्मल हो, अपने चारित्रकी प्रवृत्ति हो तो बात बन सकती है। सो यहां परमात्माका स्वरूप कहा है। ऐसा जो अनन्त विश्राम वाला देव है वह देव ही हमारा आराध्य है। यहां परमात्माका स्वरूप बताया जा रहा है। परमात्मामें दो शब्द हैं—परम और आत्मा। आत्मा तो सब आत्मा हैं ही, उन सब आत्मावोंमें जो परम है, उत्कृष्ट है उसका नाम है परमात्मा। आत्माका जो स्वरूप है वह सबके एक समान है क्योंकि वह भी आत्मा कहलाता है। चाहे बहिरात्मा हो, संसारमें रुलने वाला जीव हो, चाहे ज्ञानी आत्मा हो और चाहे परमात्मा हो सबका स्वरूप एक है। अब उन आत्मावोंमें से जो परम है वह परमात्मा है। जो अपने अन्तः स्वरूपका ज्ञाता है वह अन्तरात्मा है और जिसका चित्त बाहरमें लगा है वह बहिरात्मा है। इस जीवको केवल दो ही शरण हैं, व्यवहारमें परमात्मा की भक्ति शरण है और निश्चयमें आत्मतत्त्वका स्मरण शरण है। इन दो के सिवाय अन्यत्र किसी जगह आसरा तके तो सब बेकार है।

इस जीवलोकमें कौन किसका साथी है? सब अपने अपने कषाय भावके अनुसार अपनी-अपनी क्रियावोंमें ही रुचि रखते हैं, और अपना ही

परिणमन करते हैं, यहा दूसरा कोई शरण नहीं है। परमात्मा भगवान हमें व्यवहारसे यों शरण है कि हम उनका ध्यान रखकर अपने आपको पवित्र बनाकर अपने आपमें रमते हैं, व्यवहारसे यों शरण है कि परमार्थतः परमात्मा भी मेरा कुछ करता नहीं है। वह तो अपने ही आनन्दका का भोक्ता है। वह मलिन जीवोंके चक्करमें नहीं रहता, वह तो अपने अनन्त आनन्द और अनन्त ज्ञानका भोक्ता है पर प्रभुका जो स्वच्छ ज्ञान और आनन्द तेज है उस तेजके अनुभवसे अपने आपके स्वरूपका विकास होता है, जब हम बाह्य वातावरणसे हटकर अपने अतरङ्ग तेजमें प्रवेश करते हैं उस समय ये सब मायामय परिणमन विश्रात हो जाते हैं और इस आत्माका परिणमन उस ब्रह्मतेज के अनुसार होता है। उस परमात्माकी यहा चर्चा है।

वह परमात्मा अनेक शब्दोंसे बोला जाता है। किन्हीं भी शब्दों से बोलो-यदि भगवानके बारेमें ऐसा आपको श्रद्धान हो कि वह समस्त दोषों से रहित है और गुणोंसे पूर्ण उत्कृष्ट है उसे परमात्मा कहते हैं। ऐसा स्वरूप जानते हुए फिर चाहे किन्हीं शब्दों से कहो-उसमें भूल नहीं पड़ती। शब्द भगवान नहीं है किन्तु स्वरूप भगवान है। शब्द कोई हो, सभी शब्दोंका अर्थ जो कि भगवानके लिए बोले जाते हैं उन सब शब्दोंका अर्थ यही है जो परमात्माके शुद्ध स्वरूपका उपदेश है।

जैसे हरि उसे कहते हैं जो पाप कर्मोंको हरे। जिसने अपने कर्म मल दूर किए हैं उसका नाम हरि है अर्थात् निष्कर्मा। हर-जो अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग सर्व प्रकारके मलको नष्ट करता है उसको हर कहते हैं। अर्थात् सिद्ध। जहान तो शरीरका सम्पर्क है, न कर्मोंका सम्बन्ध है और न भावकर्म रागद्वेष हैं, ऐसा शिवस्वरूप जो ब्रह्म पद है उसका नाम हर है। ब्रह्मा-जो सृष्टिको रचा करे उसे ब्रह्मा बोलते हैं। स्वगुणै बृंहणाति इति ब्रह्मा-जो अपने गुणोंको बढाता हुआ रहे उसे ब्रह्मा कहते हैं। जीवको, आत्माको तिरोहित करने वाले रागादिक भाव हैं। यदि रागादिक भावोंसे इसे अवकाश मिले तो इसका स्वरूप नियमसे बढता हुआ ही रहे। जैसे कोई स्प्रिंगदार पलग होता है उसे यदि दबाएँ तो वह दबा रहेगा और यदि उसे दबाने वाला न मिले तो ऊँचा उठा हुआ ही रहेगा। इस प्रकार इस ब्रह्मतेजको आच्छादित करने वाले रागद्वेष मोह भाव हैं। यदि रागद्वेष मोह भाव न हों तो यह तेज, यह चैतन्य प्रकाश नियमसे बढता जायेगा। वहा तक बढेगा जहा तक कोई सीमा नहीं है। अर्थात् लोकमें जितने भी सत् हैं उन सब पदार्थोंका ज्ञाता, विश्व भी सर्वज्ञ निर्दोष शुद्ध स्वच्छ

ज्ञान ज्योतिस्वरूप जो आत्मतेज है उस ही का नाम परमात्मा है।

भैया! परमात्माके स्वरूपको मानते हुए फिर किन्हीं भी शब्दोंमे पुकारो। शब्दोंसे भगवान नहीं ज्ञात होता है किन्तु स्वरूपके दर्शनसे भगवान ज्ञात होता है। भगवान ऋषभदेव हुए हैं। जिसका नाम ऋषभदेव बताया है वह नाम भगवान् नहीं है किन्तु उस ऋषभनाथ जीवकी पर्यायमें आया हुआ आत्मा कर्मकलंकोंको दूर करके परमात्मा बन गया है। पर सूक्ष्म निगाहसे विचारो तो जिसका नाम ऋषभनाथ रखा है वह भगवान नहीं है। जो भगवानस्वरूप है वह ऋषभदेव नहीं है। ऋषभदेव ही यद्यपि भगवान बने हैं पर जो आत्माका शुद्ध ज्ञानप्रकाश है क्या उस ज्ञानप्रकाश का नाम ऋषभदेव है? नहीं है। किन्तु मरुदेवीके पुत्र, नाभिराजके नन्दन ऋषभदेव उत्पन्न हुए। इस कर्मयुगके आदि प्रवर्तक ऋषभदेव हुए हैं। तो शब्दोंसे भगवान ज्ञात नहीं होता किन्तु स्वरूपसे भगवान ज्ञात होता है।

आज जितना भी जो कुछ जगतके मनुष्योंको प्रकाश मिला है वह सब ऋषभदेवकी करुणा है। भू भोग भूमिके अंतमें ऐसा समय आया था कि जिस समय प्रजा कष्टमें थी, त्राहि त्राहि मचा रही थी। क्या होगा? पुण्यभोग अब नहीं मिल रहा है। कैसे रक्षा हो? तब उसी आदिनाथ देवने भगवान ऋषभदेवने जीवोंको सम्बोधा, उनको ६ कर्म बताये। तुम शस्त्र आदिसे सज्जित होकर सेनाका काम करो, तुम स्याही से लिख पढकर व्यवस्थाका काम करो, तुम खेती करके अन्नोत्पादन करो, तुम लोग वाणिज्य व्यवसाय करो, तुम सेवाकार्य करके लोगोंका उपकार करो। तुम कला शिल्प द्वारा सब चीजोंका निर्माण करो। प्रभुने लोगोंको उपदेश दिया, मोक्षमार्ग कैसे मिलता है? इसका उन्होंने प्रकाश किया। उन्हें कोई तो आदिम बाबा कहते है, कोई ब्रह्मा कहते हैं। क्यों कि नाभिके पुत्र थे, नाभिसे उत्पन्न हुए थे। भले ही प्रथा उनको नाभिसे उत्पन्न होनेकी है वह प्रथा मूलमें सत्य है। नाभिनन्दनको मरुदेवीके पुत्रको ऋषभदेव नामसे बोला करते हैं।

अभी भगवतस्वरूप ध्यानमे नहीं आया; अभी व्यावहारिक रूप ध्यानमें आया है। जहा भगवतस्वरूप ध्यानमे आता है वहा नाम छूट जाता है। भगवानका नाम नहीं है। भगवानका तो स्वरूप है। वह स्वरूप ध्यानमें आये तो भगवानको समझें। उन्हीं भगवानके स्वरूपको कोई बुद्ध शब्दसे कहते हैं। बुद्धका अर्थ है ज्ञानसम्पन्न। वही परम प्रकाश है, ऐसा असीम प्रकाश है जिसमें तीन लोक तीन कालमे समस्त पदार्थ झलकते रहते हैं। उसको ही जिनदेव कहते हैं, परमात्मा कहते हैं, ईश्वर कहते है

भगवान कहते हैं हमारा आपका सहारा या तो भगवानका स्मरण है या अपने शुद्धस्वरूपका अनुभव है।

वह प्रभु उत्कृष्ट अनन्तज्ञान आदिक गुणोंसे युक्त है। परमानन्द-स्वभावरूप है। जो परमात्मप्रकाश है, निर्दोष परमात्मतत्त्व है वही परम पिता है, वही विष्णु है, वही ईश्वर है, वही भगवतस्वरूप है, वही जिनेश्वर है, वही विशुद्ध है। इस तरह भगवानके १००८ नाम गाये गये हैं। १००८ ही नाम नहीं होते, इससे भी ज्यादा होते हैं, पर १००८ नामों के रूपमें ईश्वरके अनेक स्तवन रचे हुए हैं। जिसकी जैसी रुचि हो वह किसी भी नामके द्वारा भगवानकी आराधना करे। किन्तु भगवानका स्वरूप जैसा है वैसा ही लक्ष्यमें रखें तो उनका स्तवन होगा। भगवानके प्रति श्रद्धा तेज हो और जिस नाम वाले भगवान हुए हैं वही नाम लिया जाय, किन्तु परमात्माका स्वरूप चित्तमें नहीं बसा है तो उसने जिसके भगवानकी भक्ति नहीं की।

अब यह बतलाते हैं कि कोई मुनि साधु सकल सन्यासी भगवानके भक्त होते हैं तो वे सकल परमात्मा होते हैं। सगुण ब्रह्म, सशरीर भगवान भगवान [illegible], [illegible] शरीर लगा है जो पहिले लगा था। सशरीर भगवान् को अरहन्त, सकल परमात्मा सगुण ब्रह्म अनेक नामोंसे बोलते हैं। वे ही सशरीर भगवान जब शरीरसे भी मुक्त हो जाते हैं तब उन्हें निकल परमात्मा अशरीर भगवान ज्ञान शरीरी निर्गुण ब्रह्म निराकार प्रभु आदि अनेक नामोंसे पुकारते हैं। परमात्मा दो श्रेणियोंमें मिलता है। कुछ समय तक तो शरीर वाला रहता है और फिर शरीररहित हो जाता है। तो जो शरीररहित प्रभु है उसका वर्णन करते हैं।

झाणे कम्मक्खउ करिवि मुक्कउ होइ अणंतु।
जिणवरदेवइँ सो जि जिय पभणिउ सिद्ध महंतु ॥२०१॥

ध्यानके द्वारा कर्मोंका क्षय करके जो मुक्त हुए हैं और अनन्त हैं, हे जीव! उसको ही भगवानने महान् सिद्ध बताया है। साधुवों तक तो ध्यान बुद्धि पूर्वक चलता है, वे उपयोग लगाकर आसन मांड कर मन, वचन, कायको केन्द्रित करके अपने आपमें अपना ध्यान लगाते हैं। वहा तक जब बुद्धिपूर्वक ध्यान है तो उसे धर्मध्यान कहते हैं। फिर इसके बाद जब वे परम रत्नत्रयके साधक होते हैं, श्रेणियोंमें चढते हैं उस समय उनका ध्यान बुद्धिपूर्वक नहीं होता किन्तु स्वयं जैसा जो कुछ है वह ज्ञात होता है और उसकी जानकारीमें स्थिर रहता है। उसे कहते हैं शुक्लध्यान। यह शुक्लध्यान जब अपनी प्रगति करके केवल एक ही पदार्थ पर झुक जाता

है तब वह बनता है सशरीर भगवान। शरीरके मुक्त होनेके बाद उत्कृष्ट शुक्लध्यान स्वयमेव होता है। तब वह बनता है सिद्ध भगवान। तो यों प्रभु सबके द्वारा आराध्य हैं।

सिद्ध परमात्मा वह कहां विराजमान् रहता है? लोकके अतमें। कोई भी बिरादरीके लोग हों, जब भगवानको याद करते हैं तो अपना सिर ऊँचा उठाकर करते हैं। हाथ जोड़कर कहते हैं कि हे भगवान! रक्षा करो। क्या कोई नीचे मर करके भी कहता है कि हे भगवान! हमारी रक्षा करो? मेरे ख्यालसे कोई ऐसे भगवानकी याद न करता होगा। तो इससे ज्ञात है कि उस प्रभुके रहनेका मुख्यस्थान लोकके अतमें है, लोकके शिखर पर विराजमान् वह प्रभु केवल चैतन्य ज्योतिस्वरूप है। शरीर उनके नहीं है। तो यहां सिद्ध प्रभु कर्मोंका विनाश करके मुक्त हुए हैं। यह प्रभु चारों घातिया कर्मोंका विनाश करके महापुरुष हो गए हैं। परिवारके लोगोंसे, मित्रजनोंसे प्रीति करनेमें क्या मिलता है? जो बड़ी अवस्थाके लोग हो गए हैं उनसे पूछो कि सारे जीवन भर परिवारके लोगोंसे राग करते करते उन्हें अतमें कुछ मिला है क्या? केवल सक्लेश ही मिला होगा। तो खूब विचार लो, किसीसे रागद्वेष मोह करके अंतमें हाथ कुछ नहीं आता है।

भैया! जो इस रागद्वेष मोहको छोड़कर अपने आपके ज्ञान ज्योति स्वरूपका शरण लेते हैं उनको सब कुछ प्राप्त होता है—ऐसा जानकर अन्तरगमें ऐसी भावना तो भावो कि मेरी शरण इस लोकमें कोई दूसरा नहीं है। मेरी शरण तो मेरे स्वरूपका दर्शन ही है। वह आत्मस्वरूपका दर्शन प्रभुकी आराधनासे प्राप्त होता है। इसलिए केवल प्रभुकी उपासना करो या अपने आत्मतत्त्वकी उपासना करो। तीसरा और कोई उपासना के लायक नहीं है।

जब तक मोहमें कमी न होगी तब तक अशान्ति दूर न होगी। मोह की ही तो अशांति है। मोह हुआ और रोना आ जाता है। किसीको घर में इष्टका वियोग होता है। किन्तु जिसे किसीसे मोह नहीं है, अपने स्वरूपका पता है उसकी पवित्रता और प्रकृतिका कौन वर्णन कर सकता है? किन्तु यहां तो मोहियोंका झमेला है ना, सो दूसरोंके मोह और राग का सभी समर्थन करते हैं।

कोई पूछता है कि भाई तुम्हारी तबियत कैसी है अर्थात् तुम्हारा स्वास्थ्य कैसा है? तो कहते हैं कि बहुत बढ़िया है। पूछने वाले ने क्या पूछा कि स्वास्थ्य कैसा है? स्वास्थ्य मायने स्व में स्थित होना। अर्थात् आप अपने आत्मामें कैसे स्थित रहा करते हैं? पूछा तो यह है। लेकिन

जवाब क्या देते हैं कि हां मेरा स्वास्थ्य ठीक है। वे उत्तर देते हैं अपने इस पुद्गल शरीरमें ध्यान देकर। उनका ख्याल इस शरीरमें है। इस मनुष्यजन्मको पाकर कुछ अपना तो ख्याल करो। सबसे पहिले यह कर्तव्य करो कि हमारा व्यवहार अच्छा हो, पापोंसे दूर हो, सब जीवोंको अपने समान निरख कर उनसे वात्सल्य करें। सबके लिए हितकर हों, ऐसे वचन बोलें जिससे अपनी वृत्ति निर्मल हो।'

भैया ! हमारा ज्ञान, ज्ञानके स्वरूपको जानने वाला हो। सारी दुनिया को जान लें, उस जाननेसे कर्म न कटेंगे किन्तु जानने वाला जो ज्ञान है उस जानने वालेके ही स्वरूपको जान लिया जाय तो उससे कर्म कटेंगे। सो एक ज्ञानस्वरूपकी आराधना करके अपने आपके आत्मतत्त्वके दर्शन करें। जिसको अपने आत्मस्वरूपकी झलक एक सेकेण्डको भी हुई है उसे उस झलकसे ही जीवन भर सुख मिल सकता है। कोई संकट आए तो यह तो जानेगा कि संकट क्या है? प्रत्येक वस्तुका यों परिणमन है। मेरे आत्मा में संकट तो मेरी कल्पनासे होते हैं। ज्ञानबलसे ही अपने मन पर विजय होती है। इस कारण ज्ञानी पुरुष कभी खिन्न नहीं होते। खेद इसी बात से होता है कि परवस्तुवोंको अपनी माना और वे मिलती हैं नहीं, ज्ञानी परवस्तुको अपना मानता ही नहीं है फिर उसे खेद क्यों हो ?

भैया ! यदि अपने विकल्पजालको मिटाना है तो जो दृश्यमान् मायारूप हैं इनमें उपयोग न फसा अर्थात् अपनेको न परिवार वाला मानें, न अपने को पुरुष मानें, न अपनेको स्त्री मानें, न अपनेको शरीर वाला मानें, न अपनेको रागी द्वेषी मानें, किन्तु एक शुद्ध चैतन्यस्वरूप अपने आपकी मान्यता हो जाय तो इसको परम आनन्द उपजाने वाला प्रभु मिल जायेगा। भगवानको हम आखोंसे नहीं देख सकते, किन्तु समता-परिणाम करके हम अपने आपमें अपने ज्ञानस्वरूपके अनुभवसे ही देख सकते हैं। इसी कारण सब बातोंका आग्रह छोड़ो, मत मानो कि मैं अमुक कुलका हू, अमुक जाति वाला हू, शरीर वाला हू। धर्मके समयके लिए कह रहे हैं। जिस समय प्रभुके दर्शन करते हुए ये सब बातें भुला दी जायें, केवल शुद्ध चित्प्रकाशके रूपमें अपनेको मानने लगे, फिर वहां प्रभुका दर्शन हो सकता है।

भगवान जो सिद्ध हुए हैं वे कर्मोंका क्षय करके हुए हैं। कर्मोंका क्षय होता है स्वसम्वेदन ज्ञानरूपी ध्यानसे अर्थात् केवलज्ञान प्रकाश मात्र अपने आत्माका ही सम्वेदन हो तो कर्मोंका क्षय होता है। अपने आपका कैसा सम्वेदन हो जाता है। रागादिक भाव नहीं हैं, केवलज्ञान प्रकाश है,

ऐसे ध्यानके द्वारा जो कर्मक्षय होता है उसकी बात सिद्धकी होती है। ये कर्म इस जीवने आर्तध्यान और रौद्रध्यान करके कमाये है। यहां देखो रात दिन या तो आर्तध्यान चलता है या रौद्रध्यान चलता है। आर्तध्यान में होता है क्लेश और रौद्रध्यानमें मानते हैं मौज।

इष्टका वियोग हो गया उससे जो क्लेश हुआ उसका नाम है इष्ट वियोग आर्तध्यान। किसी अनिष्ट पदार्थका सयोग हुआ तो उसमे जो क्लेश चलता, विकल्प चलता है, विकल्पात्मक ध्यान चलता है उसे अनिष्टसंयोगज आर्तध्यान कहते हैं और शरीरमें कोई वेदना हो गयी, शारीरिक पीड़ा हो गयी, उस पीड़ाके कारण जो क्लेश चलता है वह विकल्प भी आर्तध्यान है और भोगके साधनकी वाञ्छा करना, उस इच्छा के कारण जो निरन्तर क्लेश बना रहता है उस क्लेशको कहते हैं निदान बध। वह भी आर्तध्यान है। तो ये संसाररुचिक प्राणी या तो आर्तध्यानमें दु:खी रहते हैं या फिर रौद्रध्यानमें खुश मिजाज रहते हैं।

किसी जीवको सताया या अन्य किसीने सताया उस सताये हुए प्राणीको देखकर जो मौज होता है, उसे कहते हैं हिंसानद रौद्रध्यान। झूठ बोलकर आनन्द मानना असत्यानद रौद्रध्यान कहलाता है। चोरी करके आनन्द मानना अथवा दूसरों को चोरी करनेका उपाय बताकर आनन्द मानना सो चौर्यानन्द है। परिग्रहमें आनन्द मानना सो परिग्रहानन्द है। सो यह जीव आर्तध्यान और रौद्रध्यानको निरन्तर कर्मोंसे बांधता रहता है। भला बतलावो किसीका बुरा विचारने से इसको क्या फल मिलता है? किसीके अनिष्ट सोचनेसे इसको क्या भलाई मिलती है? मगर कषाय ऐसा है कि उसके कारण यह इसीको ही ध्यानमें रख रहा है। अब उन्हीं सिद्ध भगवानका और विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं।

अण्णुवि बंधुवि तिहुयणहँ सासयसुक्खसहाउ।
तित्थु जि सयलुवि कालु जिय णिवसइ लद्धसहाउ ॥२०२॥

तीनों भुवनोमें रहने वाले प्राणियोंका जो हित करने वाला है और जिसका निरन्तर सुख स्वभाव है जिसने अपने आत्मप्रदेशके क्षेत्रमें अपने स्वभावको पाया है, हे जीव! वह सिद्ध प्रभु सदा कालमें ही सिद्ध पदमें निवास करता है। वह फिर इस चतुर्गतिमें भ्रमण करने न आयेगा। नरकगति, तिर्यञ्चगति, मनुष्यगति, देवगति, इन चारों गतियों में यह जीवलोक दुःख भोग रहा है। नरकगतिके जीवोंको सर्दीका दुःख, गर्मीका दुःख, मारने पीटने आदिके दुःख हैं, तिल-तिल बराबर देहके खण्ड हो जायें फिर भी वे सब मिल जाते हैं। मरते नहीं हैं। वे नारकी जीव

चाहते हैं कि हमारा मरण हो जाय पर तिल-तिल बराबर भी देहके टुकडे हो जायें फिर भी उनका मरण नहीं होता।

तिर्यञ्चगतिके दुःख एकेन्द्रियके दुःख, छेदे भेदे जाते हैं। दो इन्द्रिय के दुःख देखो—कौन उन पर दया करता है? जूतोंमें नाल लगी रहती है, देखना चाहते हैं कि इन पर पैर रखकर देखें—यह कैसे मरता है? इतनी बात देखने के लिए उनके शोक होता है, मार डालते हैं। डीमर लोग उन दो इन्द्रियके कीड़ोंको अपनी जाल व वसीमे लगाकर तालाबमें डाल देते हैं और उन्हें मार डालते हैं। दो इन्द्रिय जीवोंकी ऐसी दशा है। पशुपक्षी सभीका दुःख देखलो, कैसा उनके घोर दुःख है। मनुष्यगतिके दुःखोंको देखो—कोई दरिद्र है, कोई संतान बिना है, किसीका विवाह नहीं हुआ है, किसीके इष्ट वियोग हो गया, किसीका अनिष्ट संयोग हो गया, कितने प्रकारके क्लेश इन जीवोंके हैं? इन क्लेशोंसे युक्त यह सारा संसार है।

देवगतिके दुःख देव ही जानते हैं। जैसे कोई धनी आदमी है, जिसको हर तरहका वैभव मिला है, किसी प्रकारका कष्ट नहीं है फिर भी इज्जत पोजीशन बनाये रहनेका उसके अवश्य क्लेश रहता है। इसी तरह देवोंके खाने पीने, सर्दी गर्मीका कोई क्लेश नहीं है, फिर भी अपनेसे बड़ी ऋद्धि वाले देवको देखकर वे अतरंगमें दुःखी रहते हैं और अपनेसे छोटे देवोंको हुकुम दे देकर दुःखी रहते हैं। कोई बात नहीं मानता तो उसका भी क्लेश किया करते हैं। तो देवोंके भी घोर दुःख है। इन चारों गतियों के दुःखोंसे वह छूट गया है जिसने रागादिक रहित, सर्व बाधा रहित शाश्वत सुख प्राप्त कर लिया है, वह मोक्षपदमें अनन्त काल तक निवास करता है। जैसा अपने आपके आत्माका सहज स्वभाव है वही उनके प्रकट हो गया है। अब उनमें विकारका कोई कारण नहीं रहा। ऐसे सिद्ध प्रभु इस आत्माके चरम विकासकी अवस्था है।

भैया, एक बार सिद्ध होकर फिर वह दुबारा क्लेशोंमें आता नहीं। कोई-कोई लोग कहते तो हैं कि यदि जीव मुक्त होते जायें तो फिर कभी संसार खाली हो जायेगा, इसलिए मुक्त होनेके बाद भी वे मुक्त जीव फिर संसारमें गिरते हैं बहुत समयके बाद, किन्तु ऐसा नहीं है। फिर इसका क्या समाधान है कि जीव मोक्ष चलते ही जायें, तो भी संसार खाली न होगा? इसका समाधान यह है कि जीवराशि भी इतनी अनन्त है कि, अनन्ते जीव मोक्ष चले जायें तो भी अनन्त रहते हैं। दूसरी बात मुक्ति की विचारिये कि जीव एक बार निर्विकार सिद्ध हो गया तो अब उसमें

रागद्वेषका विकार आयेगा कैसे ? न तो उनके साथ कर्मोदयका निमित्त है और न इन जीवोंकी कोई योग्यता रह गयी कि वे राग कर सकें। एक बार सिद्ध होनेके अनन्तर फिर अशुद्ध होनेका कोई प्रसंग ही नहीं है। तो वह सिद्ध भगवान एक बार सिद्ध होनेके पश्चात् सदाकाल सिद्ध शुद्ध रहता है।

यह सिद्ध पद मिलता कैसे है ? जो जीव मिथ्यादृष्टि है, अज्ञानी है वह भी विकास करके इस सिद्धपदको प्राप्त कर सकता है। तो करणानुयोग शास्त्रमें बताया है कि पहिले इस जीवको क्षयोपशम लब्धि होना चाहिए। अनादि कालसे जो कर्म इस जीवके साथ लगे हुए हैं, जिनके उदयमे यह जीव दुर्गति भोगता है, उन कर्मोंमें पहिले हल्कापन आना चाहिए, क्षयोपशम आना चाहिए। कर्मोका क्षयोपशम उचित हो गया, इसका प्रमाण क्या है ? इसका प्रमाण यह है कि कमसे कम हम आप लोगोंके तो इतना क्षयोपशम है कि जिसे हम क्षायोपशम लब्धि कहते हैं। नहीं तो मनुष्य कैसे हो गए ? जो सञ्ज्ञी पंचेन्द्रिय हुए हैं उनमें कुछ न कुछ कर्म हल्के हुए हैं या नहीं ? एकेन्द्रिय विकलत्रय आदि जीवोंके जो कर्म हैं उनकी अपेक्षा कर्म हल्के हैं या नहीं ? हल्के हैं।

यदि क्षायोपशम है तो फिर इस जीवके विशुद्ध परिणाम ठहरते हैं। मोहान्धकारसे दूर होकर गुरुभक्ति देव उपासना, इनमें समय व्यतीत होता है। विशुद्धि लब्धि प्राप्त होनेके बाद इसमें इतनी योग्यता हो जाती है कि दूसरोंको उपदेश समझ सके और तत्त्वग्रहण कर सके, इसे कहते हैं देशनालब्धि। इसके साथ यहां यह भी जानना चाहिए कि बुद्धिपूर्वक हम आप लोगोंका सम्यक्त्व पानेके लिए कर्तव्य क्या है ?

पहिला तो काम है मिथ्यात्व, अन्याय और अभक्षका त्याग करना। मिथ्यात्व दो प्रकारका है—(१) गृहीत मिथ्यात्व और (२) अगृहीत मिथ्यात्व। अगृहीत मिथ्यात्व तो जीवको बिना दूसरेके ग्रहण कराये हुआ है, वह तो योग्य परिणाम होने पर आप नष्ट होगा। बुद्धिपूर्वक गृहीत मिथ्यात्व लिए हैं, सो इस परका मिथ्योपदेश पाकर मिथ्यात्वको छोड़ना चाहिए। देवी देवता, भवानी सीतला आदि नाना प्रकारके देवी देवता हैं। इनको अपने सुखके लिए ध्याना, सिद्धि लाभके लिए उनकी मान्यता करना ये सब मिथ्यात्त्व हैं। सो मिथ्यात्वको त्यागो। दूसरा कर्तव्य है—अन्याय को त्यागो। अन्याय क्या है ? जो अपनेको प्रतिकूल जचे अर्थात् हम पर कोई ऐसा व्यवहार करे जो हमें सहन न हो सके, ऐसा व्यवहार दूसरों पर हम करें तो इसीके मायने हैं अन्याय। अन्यायका त्याग करो, पांचो

पापोंका त्याग करनेसे अन्यायका त्याग हो जाता है और अभक्ष्यका त्याग, मांस मदिरा और ऐसी चीजें जिसमें जीव हिंसा है उनका त्याग करो। ये जैनके मुख्य चिन्ह हैं। तो सम्यक्त्वके पानेके योग्य वह है जो मिथ्यात्व, अन्याय और अभक्ष्यका त्याग कर सके।

जब गृहीत मिथ्यात्व छूट गया तब अगृहीत मिथ्यात्व छूटेगा। कुछ और ज्ञानाभ्यास करिये। पाचों पाप करना अन्याय है—दूसरोंको सताना हिंसा है, दूसरेके विषयमें झूठ बोलना—असत्य, दूसरेकी चीज चुरा लेना सो चौर्य, स्त्रीमात्र पर कुदृष्टि रखना सो ब्रह्मचर्यका उल्टा कुशील और परिग्रहकी लालसा रखना सो परिग्रह। ये समस्त जीव इन पाचों पापोंसे दुःखी हैं। सो पचपापोंको त्यागो और अभक्ष्यको त्यागो। इसके साथ ही साथ हमारे कुलधर्मका व्यवहार भी चले—देव दर्शन करना, स्वाध्याय करना, एक माला रोज फेर लेना, प्रभुमें अपनी श्रद्धा बढ़ायें, ये हमारे रोज के व्यवहार कार्य हैं और आचार विचारमें, जल पानमें रात्रि भोजन न करना यही हमारे आचरण हैं जो सम्यक्त्व होनेके उन्मुख करते हैं। तो ऐसा अपना व्यवहार भी रहे और सम्यक्त्व परिणामके ध्येयसे मुख्य उद्यम ज्ञानाभ्यास भी रहे।

ज्ञानाभ्यास के लिए अपने-अपने हृदयसे सोचो कि हम ज्ञानके अर्थ तन, मन, धन, वचनका कितना सदुपयोग करते हैं? हम अपने घरपर कितना खर्च करते हैं और उसमें से कितना खर्च अपने ज्ञानमें या समाजके बीचमें समाजके विकासके लिए कितना खर्च करते हैं? जीवोंका मुख्य काम है एक आजीविका और दूसरे निज जीवका उद्धार। इन दोनों में भी जीवका उद्धार सबसे प्रधान है। आजीविकाका उद्धार तो चंद वर्षों के लिए है। मगर जीवका, धर्मका काम सदाके लिए काम देगा। तो देख लो—और नहीं तो कमसे कम अपने कल्याणके लिए ज्ञान विकासके लिए तो खर्च हो, धर्ममें खर्च न हो तो समझो वह धन मुफ्त ही गया। खाया, खाया, बह गया। उसमें खर्च हुआ। किन्तु देखा यह जाता है कि साराका सारा धन खाया, खोया, बह गयामें खर्च होता है।

सो भैया! अपने व्यवहार धर्मको संभालते हुए और अपने परमार्थ ज्ञानके अभ्यासका यत्न करते हुए समय गुजारें तो इसमें अपनेको लाभ है। ज्ञान पानेका अधिकसे अधिक यत्न करें, परस्परमें एक दूसरेसे सदा मधुर वचनोंका आलाप करें। ये ही अपने सुखी रहनेके उपाय हैं। इन उपायोंसे चलते हुए हम ज्ञानाभ्यासमें बढ़ें और कभी अपने ध्यानके प्रताप से अपने आपमें उस झलकके दर्शन करें जिस ज्ञानमात्र स्वरूपकी झलकके

कारण इस जीवका उद्धार निश्चित् है। संसारके सकटोंसे सदाके लिए यह जीव छूट सकता है तो अपने आपके यथार्थ ज्ञानसे ही छूट सकता है। जहां यह विश्वास हुआ कि मेरा तो मात्र मैं ही हूं, मेरा कहीं कुछ नहीं है, वहा इस जीवको आनन्द ही आनन्द है। तो भली प्रकार अपने आपमें अपने आपको देखकर तुष्ट रहे इसहीमें इस जीवको आनन्द है। सिद्ध प्रभुका ध्यान हम इसलिए ही करें कि हे प्रभु! मेरा भी स्वभाव आपके ही समान सदा आनन्दमय रहनेका है मगर मोह कलंकके वशमें होकर निरन्तर क्लेश बने रहते हैं। मेरे वह प्रताप प्रकट हो जिससे मैं अपने आपके शुद्धस्वरूपको विकसित करके सदाके लिए क्लेश व लंकोंसे मुक्त हो सकूँ। केवल एक यही भावना प्रभुदर्शनमें हो और निरंतर यह ही भावना बनाएँ तो हमारा कल्याण निश्चित है।

जम्मणमरणविवज्जियउ चउगइदुक्खविमुक्कु।
केवलदसणणाणमय णदइ तित्थुजि मुक्कु ॥२०३॥

सिद्ध भगवान जन्म मरणसे रहित हैं। जिनके जन्म और मरण लगा है वे ससारी बराक् प्राणी हैं। सिद्ध भगवान जैसे सहज स्वभावरूप हैं वैसे ही परम विकसित हैं। उनके न जन्म होना और न मरण होता। जन्म और मरणके बीचमें फँसा हुआ यह प्राणी इस तरहसे दुःखी होना है जैसे बासकी पोलमें बैठा हुआ कीड़ा बासके दोनों छोर पर आग लगी होने पर दुःखी होता है। कोई एक हाथकी बांसकी डंडी है, उसके बीचमें कीड़ा घुसा हुआ है और बासके दोनों ओर आग लग जाय तो जैसे वह कीड़ा बेचैन है, दुःखी है, इसी प्रकार जन्म और मरणके बीचमें यह जीव पड़ा है और इसके दोनों ओर जन्म और मरणकी आग लगी है तो ऐसी स्थितिमें यह जीव अत्यन्त विह्वल होता है।

सिद्ध भगवानके न जन्म है और न मरण है। वह तो शरीररहित है। नया शरीर पाये तो उसको जन्म कहते हैं। पर सिद्ध प्रभुके नया शरीर होता ही नहीं है। पुराना शरीर उनका पहिले ही दूर हो गया, इस कारण सिद्ध भगवानके न जन्म है और न मरण है। प्रभुके दर्शन करते हैं तो दर्शन करके क्या शिक्षा लेना है कि हे प्रभो! आप जन्म और मरणसे रहित हैं। हम जन्म और मरणके चक्करमें लगे हुए हैं। हमारे वसकी बात नहीं है कि हम अपना जन्म मरण मिटा सकें या कुछ समय टाल सकें। तो जैसे मरण पर वश नहीं है इसी प्रकार जन्म होने पर भी हमारा वश नहीं है। मैं चाहूं जन्म हो जाय, अमुक जगह हो जाय या साधारण रूपमें कहीं भी हो जाय। न हमारा जन्म पर अधिकार है और न मरण पर

अधिकार है। सिद्ध भगवानके तो जन्म और मरण है ही नहीं।

और फिर कैसा है वह सिद्ध प्रभु कि चारों गतियोंके दु खसे रहित है। इन चारों गतियोंमें जो दु ख हैं उन्हें सरल भाषामें कहा जाता है तो यही दु ख है कि इसके जन्म और मरण चल रहा है। चारों गतियोंके दु ख इसके बन रहे हैं। कहा तो आत्माका सहज शुद्ध परमानन्दरूप स्वभाव है और इस आनन्दमय स्वभावसे आत्माको सुख है और कहा ये चारों गतियोंके क्लेश? इनमें कितना अन्तर है? आत्माका स्वभाव आनन्द भोगनेका है और विभावशी प्रकृति सब तरहके दु ख भोगनेकी है। भगवान सिद्ध प्रभु शुद्ध परमानन्द एक स्वभाव वाला है ऐसा जो आत्म-सुख होता है उससे बिल्कुल विपरीत हैं ये चारों गतियोंके दु ख।

और फिर कैसे हैं सिद्ध प्रभु कि केवलज्ञान और केवलदर्शनरूप अनन्त भावोंसे युक्त हैं। भगवानका ज्ञान बारी बारीसे नहीं जानता, जैसा अपन लोग बारी बारीसे जानते हैं। अब इसको जाना, इसके बाद फिर दूसरेको जाना, यों प्रभुका जानन नहीं होता है। उनका ज्ञान तो समस्त लोक और अलोकको एक साथ जानने वाला है। क्रम-क्रमसे उसका जानन नहीं होता है। इन्द्रियोंका भी सहारा नहीं है। जैसे हम लोग इन्द्रियोंसे ही सब कुछ पहिचान पाते हैं, खट्टा मीठा आदि कडवा रस, काले पीले आदि नाना रग, इन सबको हम इन्द्रियों द्वारा पहिचान पाते हैं, किन्तु भगवान समग्र द्रव्योंको उनके गुण पर्यायको एक साथ जान जाते हैं। ऐसा परमात्मा होनेकी हम सबमें शक्ति है पर मोह कर रहे हैं इसलिए शक्ति दबी हुई है। जिस दिन मोह छूटेगा उस दिन आत्माकी यह सहज शक्ति प्रकट हो जायेगी।

भगवान न तो क्रमसे जानता है और न इन्द्रियोंके आधीन होकर जानता है, न केवल सामने की ही जानता है किन्तु वह सबको एक साथ जानता है, अपनी आत्मीय शक्तिसे जानता है और आगे हो या पीछे हो सबको एक साथ जानता है। ऐसे केवलज्ञान व केवलदर्शनसे सिद्ध प्रभु रचा हुआ है। वह प्रभु ज्ञानमय है, केवलदर्शनमय है। सो यह सिद्ध प्रभु अपने ऐसे स्वरूपमें रहकर करता क्या है कि अपने जो ज्ञानादिक गुण हैं उन गुणोंमें सदा आनन्दित रहता है।

भैया! अपन लोगोंने बड़ा ऊँचा पुण्य पाया है। पूर्वोपार्जित पुण्य का उदय है जिससे मनुष्यगति मिली और ऐसा अहिंसामय समागम मिला इतने पर भी हम धर्मका आदर नहीं करते और जैसे पशु पक्षी बनकर विषयोंमें मौज लेते थे इसी तरह विषयोंका मौज लेते रहे तो ऐसा मनुष्य

जन्म पाना और न पाना सब बराबर है। मनुष्य जन्म पाना तभी सफल है जब अपना विशद ज्ञान कर सकें, अनुभव कर सके और अपने स्वरूप के अनुभवके द्वारा अपनेको कर्मोंसे बचा सकें।

यह आत्मा अपने अविनाभावी जो अनन्त ज्ञानादिक गुण हैं उन गुणोंके साथ जो आनन्दित हुए हैं वे हैं अरहंत और सिद्ध भगवान। ऐसे गुणधारी वे भगवान अपने स्वाभाविक अनन्त ज्ञानादिक गुणोंके साथ वृद्धिको प्राप्त हुए हैं और उस ही मोक्षपदमें वे अविचल रूपसे रहते हैं।

ज्ञानावरणादिक जो ८ कर्म हैं उनसे तो सिद्ध भगवान रहित हैं। उन्हें कोई बाधा नहीं होती। उनमें कोई छोटा बड़ा नहीं रहता। सम्यक्त्व दर्शन, ज्ञान आदि गुणों करके सहित सब समान हैं।

ऐसे सिद्ध प्रभुको इन दो तीन विशेषणों से सक्षेपमें जानिए कि उसके जन्म मरण नहीं होता, चार गतियोंके दुःखोंमें नहीं जाते और केवलज्ञान, केवलदर्शनके अनुभवसे सदा आनन्दित रहते हैं। ऐसे सिद्ध प्रभुको मेरा भाव नमस्कार हो।

अब इसके बाद यह बतलाते हैं कि जो परमात्माके प्रकाशकी भावनासे रत हैं और ग्रंथकी अपेक्षा परमात्मप्रकाशके उपयोगके उन्मुख हैं उन पुरुषोंका फल दिखाते हुए अब इस सम्बन्धमें दोहा कहते हैं।

जे परमप्पपयासु मुणि भाविं भावहिं सत्थु।
मोहु जिणेविणु सयलु जिय ते बुज्झहि परमत्थु ॥२०४॥

जो मुनिजन इस शास्त्रकी भावना करते हैं। किस शास्त्रकी? इस परमात्मप्रकाशकी। इस ग्रन्थका नाम है परमात्मप्रकाश याने जो परमात्मा की बात बताए तो यह परमात्माकी बात दिखाता है इस लिए इसका नाम परमात्मप्रकाश है। इस परमात्मप्रकाश ग्रन्थके माध्यमसे परमात्माके प्रकाशकी ज्ञानीजन भावना करते हैं। काहे के द्वारा भावना करते हैं? अपने शुद्ध भावोंके द्वारा जिसमें किसी प्रकारका रागादिक अपध्यान न रहा हो, ऐसे शुद्ध भावोंसे जो परमात्मप्रकाशकी भावना करते हैं वे परमार्थको जानते हैं। क्या करके उन्होंने परमार्थको जाना? रागद्वेष मोह इस मोह वैरीको जीत करके अपने आपके गुणोंको उन्होंने जाना। यह मोह कैसे जीता जाय? इसका उपाय यह है कि यह समझमें आना चाहिए कि मेरा मोह स्वभाव नहीं है। मेरा तो ज्ञान स्वभाव है। जिसका जो स्वभाव है उस स्वभाव रूप वर्तता हुआ कभी थकता नहीं है और जो जिसका स्वभाव नहीं है उस कार्यको करे तो वह थक जाता है।

जैसे यह जीव क्रोध करके तो कितने क्षण क्रोधमें व्यतीत करेगा?

अंतमें यह थक जायेगा। इसलिए क्रोध आत्माका स्वभाव नहीं है, कल्याण नहीं है, धर्म नहीं है। घमंड करे कोई तो वह कितने समय तक करेगा? कहां तक अपनी बड़ाई और ऊँची बात कहेगा? वह थक जायेगा। इस कारण घमंड करना इस जीवका स्वभाव नहीं है। जो जीवका स्वभाव है वह जीव के साथ बना रहता है। ऐसे शुद्ध भावों सहित जो परमात्माका ध्यान करता है वह इस परमार्थको जानता है। कैसा है यह समस्त मोह कि यह समस्त संकटोंका कारण है। इसको जान करके ही परमार्थ जाना जा सकता है।

जो गुणविशिष्ट तपस्वीजन हैं वे इस पर-आत्मतत्त्वको ध्याते हैं। परमात्मतत्त्व ही परमार्थ। परमार्थ शब्दसे अर्थ हुआ चिदानन्द एक स्वभाव वाला परमात्मा। अब बतलावो रोज दर्शन करने तो जायें और अन्तरमें यह आवाज न उठे कि हे प्रभु! हम बड़ी गलती पर २४ घन्टे रहते हैं, तुम्हारा जैसा कार्य मुझसे बने तो आपकी भक्तिका प्रसाद मिले और पूजा करलें, दर्शन करलें और चित्प्रकाशके गुणानुरागमें चित्त न जाये तो बतलावो चित्प्रकाशकी मूर्तिके दर्शन करनेसे क्या फायदा उठाया इस चिदानन्द एक स्वभाव वाले परमात्मतत्त्वको विशिष्ट तपस्वीजन धारण करते हैं। ऐसे परमात्माका इन ग्रन्थोंमें वर्णन किया गया है। आत्माका जो उत्कृष्ट स्वभाव है उसका वर्णन किया गया है। जो जीव जानता है उस परमस्वभावको वह जीव कभी परमस्वभावको प्राप्त कर लेगा। जिसने अपना स्वभाव न जाना वह अपने स्वभावका कैसे विकास करेगा? तो जो परमात्मप्रकाशकी भावना करते हैं उनका यह फल दिखा रहे हैं कि परमार्थ तो उन्होंने ही जाना।

अण्णुवि भत्तिए जे मुणहिं इहु परमप्पपयासु।
लोयालोयपयासयरु पावहि तेवि पयासु॥२०५॥

और भी विशेष फल बतलाते हैं कि जो भक्तिसे परमात्मप्रकाशको जानते हैं वे लोक और अलोकका प्रकाश करने वाले अद्भुत प्रकाशको याने केवलज्ञान और केवलदर्शनको प्रकट कर लेते हैं। परमात्मतत्त्व क्या है? सो निरखें। अपने आपमें आत्माका जो सहज ज्ञानस्वभाव है उस ज्ञान स्वभावरूप अपने को देखें तो उस परमात्मतत्त्वको जान सकते हैं। जो ऐसा मानते हैं कि हम पुरुष हैं, स्त्री हैं, बच्चे हैं, अमुकके पिता हैं, वे इस प्रभुका दर्शन नहीं कर सकते हैं। क्योंकि यह जो शरीरमें अपने आत्माकी बुद्धि बनाते हैं कि यह ही मैं हू, बस इस शरीरकी बुद्धिमें ही वे अटक जाते हैं और प्रभुके दर्शन नहीं कर पाते। प्रभुका दर्शन तब होता

है जब कोई संकल्प विकल्प न हो। सकल्प विकल्प तो रात दिन किए जा रहे हैं, और चाहें कि प्रभुका दर्शन मिले तो सकल्प विकल्प करने वाले को प्रभुका दर्शन नहीं मिलता।

तब क्या करना है कि इन खोटे सकल्प विकल्पोंको मेटनेके लिए भगवानका गुणानुवाद करें, भगवानका जाप करें, उनका नाम स्मरण करें बडे पुरुषोंकी सेवा शुश्रूषा करे तो इन अच्छे कामोंमें पडने से जो खोटे कामकी चोटें होतीं हैं वे नहीं हो सकतीं। यह जीव चाहता तो सुख है पर सुखके काम नहीं करना चाहता। डरता तो दु खोंसे हैं पर दु खोंके ही काम किया करता है। इन इन्द्रिय विषयोंकी प्रीति करना दु खका ही कारण है। अपनी खुदगर्जीमें रहना, अपने ही खाने पीनेकी धुनि रखना, अपने आराममें जरा भी फर्क आए तो गुस्सा करना, दूसरोंकी जान ही न समझना, दूसरोंकी सेवा करनेका भाव न होना, अपने ही अपने खाने पीनेकी धुनिमें रहना, यदि यही रहा तो बतलावो धर्म कहा हुआ ? धर्म तब होता है जब अपने शरीरकी भी खबर नहीं रहती है। जो है सो है।

हितार्थीके शरीरमें अहकार नही पैदा होता है वह तो दृष्टि देता है धर्मकी ओर, शरीरकी ओर नहीं। तो अपने व्यवहारमें इतना तो होना चाहिए कि हम दूसरोंकी सेवा करें, किसीको मेरे द्वारा कोई कष्ट न पहुचे ऐसी भावना करें व यत्न करें। सुखी होनेका सीधा उपाय यह है कि तुम सब जीवोंको सुखी होनेकी भावना करने लगो। इसमें आपका क्या बिगाड़ होता है ? अगर ऐसी बात मनमे धारण करले कि जगत्के सब जीव सुखी हों तो इसमें क्या बिगड़ गया ? जगत्के सभी जीवोंको सुखी होनेकी भावना हो तो इसमें कोई टोटा नहीं पड़ता है बल्कि दूसरोंके सुखी होनेकी भावना करनेसे अपने आपमें स्वय सुख होता है।

अभी भी बहुत से पुरुष ऐसे होते हैं कि दूसरोंको खिलानेसे खुश रहते हैं, खुदके खानेमें इतना खुश नहीं होते। दूसरोंको आराम पहुचानेमें संतोष करते हैं और सुखी होते हैं। पर यह बतलावो कि अगर सब जीवों के सुखी होनेका मन बना लें, सब सुखी हों तो इससे घाटा क्या हुआ ? फायदा ही हुआ क्योंकि अपने शुद्ध सुख स्वरूप पर दृष्टि गई। जगत्के जो अनन्त जीव हैं उनके शुभ लक्षणोंपर दृष्टि गई तो उससे लाभ ही हुआ निर्मलता बढ़ी, किन्तु मोही जीव अपने गंदे भावोंमें रहता है और धन ही वैभवोंमें रमकर अपना जीवन खो देते हैं।

देखो भैया ! इस मनुष्यको चारों चीजें मुफ्त मिली हैं। शरीर, यह मुफ्तमें ही मिला समझो। अनन्त काल तक अनन्त जन्म मरण किया

और अचानक मिल गया। यह मनुष्यशरीर तो बहुत बड़ी दुर्लभतासे मिला है और ऐसा मन मिला जो सबकी बातोंको सोच सकते हैं, यह मन भी बड़ी दुर्लभतासे मिला है और धन भी जिससे आजीविका हमारी स्थिर रहे यह धन भी सुयोगसे मिला और बोलनेकी शक्ति भी इस मनुष्य में सर्वजीवोंसे विलक्षण है। तो तन, मन, धन और वचन ये चारों चीजें जब हम आपको मिल गई हैं तो इनका सदुपयोग करें। तनका सदुपयोग यह है कि दूसरोंको कल्याणमार्गमें लगानेकी प्रेरणा करें। तो जो जीव सबके सुखी होनेकी भावना करेगा वह जरूर सुखी होगा। और जो दूसरों को दुःखी होनेकी भावना करेगा तो वह पापी है क्योंकि वह दूसरेके दुःखी होनेकी भावना कर रहा है। अपने आपका जैसा सुख स्वभाव है वैसा सब जीवोंका है। यदि वे जीव सुखी हो जायेंगे तो क्या उससे हमारे सुख में कमी आ जायेगी ?

देखो भैया ! धर्मकी रूढ़िमें ही लाभ नहीं है। हम लोग कीड़ों मकौड़ोंसे भी क्षमा मांगते हैं। दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चारइन्द्रिय सभी जीवोंसे क्षमा मागते हैं। सामायिक करते हुएमें कहते हैं कि मैं समस्त जीवोंसे माफी मागता हूं, इस प्रकारसे बोलते हुए भी मनुष्योंसे कितना ही असद्व्यवहार रहे पर क्षमाकी बात न मागे तो कीड़ों मकौड़ों से माफी मागना ढोंग ही रहा। जैसे भगवानके सामने स्तुतिमें कह जाते हैं कि "आतमके अहित विषय कषाय, इनमें मेरी परिणति न जाय" ऐसा कह भी जाते हैं मगर ऐसा करनेके लिए रच भी तैयार नहीं होते हैं। तो कहते भी जाते हैं और प्रभुको धोखा भी देते जाते हैं। तो उनको धोखा देनेसे कहीं प्रभुका नुक्सान नहीं है। धोखा देने वाला खुद अवनतिमें है सो वह धर्मका कार्य नहीं कर सकता है।

सो भैया ! धर्मके लिए तो इतना करते रहो कि सब जीवोंके सुखी होनेकी भावना रखो। दूसरोंका सुख चाहोगे तो खुदको भी सुख मिलेगा। दूसरोंका सम्मान करोगे तो दूसरोंके द्वारा तुम्हें भी सम्मान मिलेगा और दूसरोंका बुरा विचारोगे तो खुदका भी बहुत बुरा हो जायेगा। सो अपनी सावधानी यह है कि तनसे दूसरोंकी सेवा करें और मनसे दूसरोंके सुखी होनेकी भावना रखा करें और धनसे कोई दुःखी है, दरिद्र है, संकटमें है तो धन खर्च करके उसके सकट मिटावें। वचन ऐसे बोलते रहो कि सुनने वाले लोग कष्टमें हों तो तुम्हारे वचनोंसे उनका कष्ट दूर हो जाय। सो सदा मधुर वचन बोलने चाहिये। तो यों जो विनाशीक मिली है चारों चोजें -शरीर, मन, धन, और वचन, सो इनका सदुपयोग कर लो। रहेंगे

तो ये हैं नहीं, पर जब तक हैं तब तक इनका सदुपयोग करो और अपने परिणाम सदा शुद्ध रखो। कौन आया, कौन गया, मेरा क्या ? कौन दूसरे का ? इन सब स्थितियोंको छोड़ो और अपने आपमें अपनी निर्मलता बढावो। दूसरोंको सुखी होनेकी भावना करोगे तो खुदको भी सुख होगा। सो जो अपना भला चाहे वह दूसरों पर कषाय न करे—यह धर्मका पहिला रूप है।

इस ग्रन्थका नाम परमात्मप्रकाश है। योगीन्दु देव कह रहे हैं कि जो भक्तिपूर्वक इस परमात्मप्रकाशको जानते हैं अर्थात् इस परमात्मप्रकाश ग्रन्थके वाच्यरूप परमात्माके प्रकाशको जानते हैं वे जन स्वयं ही लोक और अलोकका प्रकाश करने वाले प्रकाशको प्राप्त होते। परमात्माका प्रकाश है केवल ज्ञानरूप। जिसका असीम विकास हुआ, समग्र पदार्थोंका जानना ही जिसका कार्य है ऐसे परमात्माके प्रकाशको जो जानते हैं वे भी निर्विकल्प होकर इसही प्रकाशमें अपनी समाधि पाकर इस प्रकाशरूप हो जाते हैं अर्थात वे तीनलोक, तीनकाल सम्बन्धी समस्त पदार्थोंको जानने वाले हो जाते है इसी विषयमें और भी कह रहे हैं।

जे परमप्पपयासयहँ अणुदिणु णाउ लयंति।
तुट्टइ मोह तडित्ति तहँ तिहुयणणाह हवंति ॥२०६॥

जो भव्य जीव परमात्मप्रकाश ग्रन्थका अथवा निश्चयसे परमात्म-प्रकाशका अर्थात् केवलज्ञानादि अनन्तगुणसहित परमात्माका जो विकास हैं उसका प्रतिदिन सदैव नाम लेते हैं, उस स्वरूपको लक्ष्यमें लेकर जो ध्यान करते हैं उन जीवोंका मोह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है और वे तीन भुवनके नाथ हो जाते हैं। परमात्माके प्रकाशका अर्थात् भगवानके स्वरूप का जो नाम लेता है उसका तो कोई नाम है नहीं, पर किन्हीं शब्दोंसे उस स्वरूपको जो झलकमें लेता है उस जीवका मोह शीघ्र टूट जाता है।

यह जीव मोह करता है इस स्थितिमें कि जब उसे अपने ज्ञानानन्द स्वरूप वैभवका पता नहीं है। अपने उत्कृष्ट वैभवका पता हो तो यह पर-पदार्थोंमें मोह नहीं कर सकता क्योंकि यह स्वतंत्र है, अनन्त आनन्दका निधान है। जब इसे अपने सहज आनन्दस्वरूपका पता हो जाय तो फिर इन मायामय, असार दुःखप्रद बाह्य पदार्थोंसे कैसे रुचि करेगा ? मोह नहीं रहेगा। मोह न रहेगा तो कुछ ही समय बाद यह तीन भुवनका नाथ हो जायेगा। यह मोहपरिणाम उस स्वरूपसे विलक्षण तत्त्व है। मैं तो निर्दोष आत्मद्रव्य हू और यह मोह दोषस्वरूप है। इस निर्मोह आत्मद्रव्यसे विपरीत यह मोह उनके टूट जाता है। जिन्होंने परमात्माके प्रकाशरूप

आंतरिक मर्मका यह परिचय पाया है कि भगवान ज्ञान और आनन्दकी मूर्ति हैं।

भैया! भगवानका दर्शन शरीरके दर्शनसे नहीं होता। यदि किसी आकारमें प्रभुका हम दर्शन करना चाहें तो नहीं होता। प्रभु तो ज्ञानस्वरूप और आनन्दस्वरूप है। प्रभुका स्वरूप जाननेके लिए किसी बाह्यपदार्थकी ओर दृष्टि नहीं लगाना है किन्तु अपने ही आन्तरिक स्वरूपमें दृष्टि लगाना है। अपने आपके स्वरूपका परिचय होनेसे परमात्माके स्वरूपका परिचय होगा। जिन्हें परमात्माके स्वरूपका परिचय हुआ है किम्वा परमात्माके स्वरूपका परिचय हुआ है उनके मोह कैसे रह सकता है? उसे तो यह दृष्टिगत हुआ कि यह ज्ञानानन्दप्रकाश अपने स्वरूपसे मात्र ज्ञानानन्द रूप है, यह किसी अन्य पदार्थसे नहीं होता। और न यह कहीं कुछ चीजको लपेटकर प्रकट करता है किन्तु जो स्वरूप है इसका अपने सत्त्वके कारण वही स्वरूप प्रकट हो जाता है। जो इस प्रकार परमात्माके स्वरूपको जानते हैं उनके मोह नहीं रह सकता।

निर्दोष शुद्ध आत्मतत्त्वकी भावना जिनके जगी है इस ज्ञान बलसे पहिले वे देवेन्द्र चक्रवर्ती आदि विशेष विभूतिको प्राप्त करते हैं और पश्चात् जिनदीक्षाको ग्रहण करते हैं अर्थात् इस समस्त वैभवका परित्याग करके अपने आत्माके ध्यानका ही सकल्प और सयम करते हैं। सो वे महाभाग केवलज्ञानको उत्पन्न करके तीन लोकके नाथ होते हैं। प्रभुका भक्त स्वर्ग फल पाता है और मनुष्यमें होने वाला उत्कृष्ट वैभव फलको पाता है और पीछे समस्त वैभवका त्याग करके यह अपवर्ग पदको प्राप्त होता है। इस ग्रन्थकी समाप्तिके समय प्रशस्तिरूप यह वर्णन चल रहा है। परमात्मप्रकाश जो होता है उसका इसमें वर्णन किया है। यद्यपि इस ग्रन्थमें मुख्यतया आत्माके स्वभावका वर्णन है जो सर्वजीवोंमें सत्ताके कारण पाया जाता है। पर जो स्वभाव होता है वह विकासमें मिलता है।

जैसे पानीके स्वभावको लोकव्यवहारमें ठडा कहते हैं और अग्निके सयोगसे पानी गरम हो जाय तो ऐसी गरम हालतमें भी पानीका स्वभाव पूछे कि कैसा है? तो कहेंगे कि इसका स्वभाव ठडा है। यद्यपि पानी अभी गरम है किन्तु स्वभाव पूछा जायगा तो ठडा कहा जायगा। वह ठडापन यहा व्यक्त नहीं है फिर भी स्वभाव तो ठडा ही है। उपाधि दूर हो, ताप सयोग दूर हो तो पानी ठडाका ही ठंडा रह जायगा। इसी प्रकार इन रुलने वाले संसारी जीवोंका भी स्वभाव पूछा जाय कि कैसा है? तो उत्तर मिलेगा कि ठडा है। कैसा ठडा? शात। कषाय अग्निसे गरम नहीं

है। जैसे परमात्मप्रकाश शीतल है, दुःख सतापसे दूर है इसी प्रकार जीवका भी स्वभाव सतापक्लेशोंसे दूर है।

कैसे हमारा यह आनन्दस्वभाव प्रकट हो ? हम अपने आनन्द स्वभावकी भावना बनाएं– मैं स्वरसतः आनन्दमय हूं, स्वयमेव ज्ञानमय हू—ऐसी अपनी भावना बनाएँ तो हम आनन्दमय बन सकते है। पर संसारके पुरुष अपनेको नाना पर्यायरूप बनाते हैं सो उन्हें ससारकी पर्यायें मिलती चली जाती हैं। सो जो जीव इस परमात्मप्रकाश ग्रन्थको पढ़कर पर्यायरूप कार्यसमयसाररूप परमात्मा के प्रकाशकी पहिचान करते हैं और भगवानके स्वरूपको जानकर अपने आत्माके स्वरूपकी पहिचान करते है वे जीव तुरन्त ही मोहको तोड़ते हैं और रागद्वेषको भी तोड़कर तीन भुवनके नाथ होते हैं। इस प्रकार इन तीनों दोहोंमें परमात्माके प्रकाश की भावना बनाने से जो फल होता है उसके फलको बतानेकी मुख्यतासे परमात्मप्रकाशकी महिमा गाई गई है।

अब इस परमात्मप्रकाश ग्रन्थ द्वारा जो लक्ष्यमे लाया गया है ऐसा जो यह परमात्मा है उसके आराधक पुरुषोंका लक्षण बतानेके लिए अब इस काव्यको आचार्यदेव कहते हैं।

जे भवदुक्खहँ बीहिया पउ इच्छहिं णिव्वाणु।
इह परमप्पपयासयहँ ते पर जोग्ग वियाणु ॥२०७॥

वे ही महापुरुष इस परमात्मप्रकाश ग्रन्थके अभ्यास करनेके योग्य होते हैं जो चारों गतियोंके दुःखोंसे डर गए हैं और निर्वाण पदकी चाह करते हैं। देखो अभी जिन मनुष्योंको बडे क्लेश हैं, चिंताएँ हैं, झंझट हैं उनका तो मन इन क्लेशोंके कारण धर्ममें नहीं लगता। कहते भी है कि जब निश्चित हों, किसी प्रकारका अतराय न हो, विपत्ति न हो तो धर्मको चित्त चाहता है। पर जिनके सब प्रकारका मौज हो गया है वे मौजमें ही मस्त रहते हैं तो उनको धर्म करनेका भाव नहीं होता तो जो जीव मौजमें हों या दरिद्रता या किसी कमीके संकटसे क्लेशमें हों, जो पुरुष अपने धर्म में चित्त लगाते हैं वे धन्य ही हैं। आत्माके भवितव्यका फैसला बाह्य ससर्गसे न होगा किन्तु आत्माके भावसे होगा। जैसा आत्मपरिणाम किया है वैसा फल इस जीवके स्वय आगे आता है। खोटे कर्म किया है, पाप बंध किया है तो वह भी न छोडेगा और शुभ भाव किया है, त्याग भाव बनाया है, पुण्यबध हुआ है तो वह भी आगे आयेगा।

तपस्याक फलसे आत्मध्यानके प्रतापसे वे बाधे हुए कर्म अनुभाग-हीन बनकर असमयमें खिर जायें, खिर जावो, किन्तु जीवको सुख दुःख

जितने होते हैं वे उनके कर्मोदयका निमित्त पाकर ही होते हैं। दूसरे जीवोंके द्वारा किसी दूसरे जीवको सुख या दु ख नहीं होता है। इस जीव को शरण है तो अपना परिणाम है। चाहे किसी अवस्थामें इसका समाधान करे, जब भी अपनेको शरण होगा तो अपना परिणाम शरण होगा, ज्ञान शरण होगा। दूसरा जीव कोई भी इसे शरण नहीं हो सकता। इन समागमोंके बीच भी यदि आपको घरके लोग या और लोग कुछ पूछते हैं, विनय करते हैं और मिष्ट वचन बोलते हैं, आपके सुखके अनुकूल अपनी चेष्टा करते हैं तो यह न समझो कि ये लोग देखो मेरी कैसी सेवा कर रहे हैं? यहा भी आपका उदय है। पूर्व समयमें जो मन्दा र धर्मपालन किया था उसके फलमें जो सुकृतका बंध हुआ उसके उदयमें ये लोग पूछ रहे हैं।

भैया! खुद बुरा है तो इसका कोई पूछने वाला नहीं है और यदि खुद अच्छा है तो इसके पूछने वाले दसों हैं। मिला है कोई ऐसा आपको कि खुद बुरा हो और फिर भी दूसरे लोग इसकी इज्जत करें या खुद अच्छा हो तो लोग फिर भी इसे गिरायें? भले ही इतना फर्क पड जाय कि वर्तमानमें भले होने पर भी पूर्व कर्म बहुत बुरे किए थे उनका उदय अभी चल रहा है। सो उस स्थितिमें वर्तमानमें चाहे जो हो ले, पर वर्तमान भलेका अन्तरमें प्रभाव नहीं टलता। सो जो उदयमें आ रहा है वह बुरा उदयमें आ रहा है इसलिए यह बात बन रही है। पर वर्तमानमें जो निर्मल परिणाम किया जा रहा है वह भी आगे निष्फल न जायेगा। उसका भी आगे फल मिलेगा। केवल अपना आत्मा ही अपने आपको शरण है। हम सदाचारसे रहेंगे तो हम अपने लिए शरण हैं और खुद खोटे आचार विचारसे चलेंगे तो कोई जीव किसी दूसरेका कुछ लगता नहीं है। हम तो खोटे रास्ते पर चलें और फिर भी लोग हमें उठाये रहें ऐसा इस जगतमें अधेर नहीं है।

जहा वस्तुकी पूरी स्वतन्त्रता है और निमित्तनैमित्तिक भावसे यथावस्थित पदार्थोंका परिणमन चल रहा है वहा यह अधेर नहीं हो सकता कि हम अच्छा काम करें और फिर भी हमें कष्ट हो, हम बुरा काम करें फिर भी लोग हमारे सुखके साधन जुटाएँ। ऐसा जानकर हे कल्याणार्थी जनों! इस ससारसे कुछ भय तो होना चाहिए। राग-रागमें ही मस्त होकर रहें तो मिलेगा क्या अतमें? जब वियोग होगा तो संक्लेशसे मरण होगा। इस कारण बुद्धिमानी यह है कि जब तक समागम मिला हुआ है तब तक समागमसे अपनेको जुदा जानकर उसमें हर्ष न मानो।

पुण्य और पापके फलमें हर्ष और विषाद करना यह अज्ञान है। क्योंकि ये समस्त ठाठ कुछ दिनको मिले हैं, फिर मिटेंगे। पुण्यके फलके आश्रयभूत जो पदार्थ हैं न वे सदा रहेंगे और पापके फलके आश्रयभूत जो पदार्थ हैं न वे सदा रहेंगे।

संसारमें दुःख और सुख चक्रकी तरह परिवर्तन कर रहे हैं। जैसे चक्र का आरा परिवर्तन कर रहा है कभी नीचे कभी ऊपर, इसी तरह सुख और दुःख इस जीवके साथ परिवर्तन कर रहे हैं। दुःख भोगनेके बाद सुख आता है और सुख भोगनेके बाद दुःख आता है। नारकी जीव घोर दुःख भोगते हैं तो नारकी फिर मरकर नारकी नहीं बनते। पहिले और कुछ बनेंगे—मनुष्य बनें, तिर्यञ्च बनें तब कहीं नरकमें जायेगा तो जायेगा। जैसे मनुष्य मरकर मनुष्य बन सकता है इसी तरह नारकी मरकर नारकी नहीं बन सकता है और देखो देवोंके सुखका समागम विशेष है, उनके पुण्य अधिक है, सुख बहुत मिला है तो वह देव मरकर फिर देव नहीं होता क्योंकि अभी तक अधिक सुख भोगा। अब उस सुखके बाद वही सुख न मिलना चाहिए, किन्तु थोड़ा दुःख मिलना चाहिए। तो सुखके बाद दुःख आता है और दुःखके बाद सुख आता है। पर कर्मोंका विनाश हो जाने पर जो आनन्द प्रकट होता है उस आनन्दका कभी विनाश नहीं होता।

जगतका ऐसा असार स्वरूप जानकर हे कल्याण चाहने वाले पुरुषों! संसारके दुःखोंसे भय करो। जो संसारके दुःखोंसे भय करते हैं वे ही दुःखोंसे छूट सकते हैं। जो आगसे जलनेका डर मानता है वह आगको क्यों पकड़ेगा और क्यों जलेगा? जो छोटे बच्चे नहीं जानते हैं कि आग जलाने वाली चीज है तो जलता हुआ कोयला पड़ा हो तो खेलने के लिए बड़े आराममें हाथमें उठा लेता है। होता क्या है अन्तमें? जो होना है सो उसका हाथ जल जाता है। पर जो समझता है कि आग जला देने वाला पदार्थ है वह कभी आग पर हाथ न रखेगा। यदि आग उठाकर दूसरी जगह रखना है और चीमटा आदिका कोई साधन नहीं है तो वह आगको सावधानीसे उठाकर शीघ्र छोड़ देता है। तो संसारके दुःखोंसे यदि डरते हो तो उनसे डर मानो।

संसारके दुःखोंसे डर मानो—इसका अर्थ यह है कि दुःखोंके कारणभूत जो पाप कार्य हैं उनको मत करो। अनादि कालसे पापके बंध चले आ रहे हैं, उदय चला आ रहा है। संस्कार खोटे बन रहे हैं, ऐसी स्थितिमें अपने आपका सुधार करना है, तो सुधारके लिए जो ज्ञान ध्यान और अनेक साधन बनाए जाते हैं तो उसका फल अभी यदि नहीं मिला

तो कुछ समय बाद उसे अवश्य मिलेगा। सो अनेक उपाय करके एक परमात्माके प्रकाशका परिचय तो पा लो। कैसा है प्रभुका ज्ञान, जिस ज्ञानसे लोकालोकवर्ती समस्त पदार्थ प्रतिभासित होते हैं? जो ज्ञान अपने आपके ज्ञानकी झलक लेता हुआ बना रहता है ऐसे उस परमात्मा के ज्ञानका परिचय करो और उस परिचयके साथ अपने आपके अन्तरात्मा का भी परिचय करो। इस परमात्मप्रकाशके परिचयसे अवश्य ही यह परमात्मप्रकाश अपने आपमें उत्पन्न होगा।

जे परमप्पहँभत्तियर विसयण जे वि रमंति।
ते परमप्पपयासयहँ मुणिवर जोग्ग हवंति॥ २०८॥

जो परमात्माकी भक्ति करने वाले मुनि विषय कषायों में नहीं रमते हैं वे ही मुनीश्वर परमात्मप्रकाश के योग्य होते हैं। आत्मा तीन प्रकारके होते हैं—बहिरात्मा, अंतरात्मा और परमात्मा। छहढालामें पढा होगा—बहिरात्मा पुरुष वह है जो देह और जीवको एक माने। देह तो उपलक्षण से कहा है। अपने विषय कषायोंको और अपने स्वरूप को जो एक मानता है वह बहिरात्मा पुरुष है। अन्तरात्मा वह कहलाता है जो समस्त परद्रव्यों से भिन्न अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूपको आत्मा समझता है। परमात्मा वह कहलाता है जो रागद्वेष मोहसे सर्वथा दूर है। जिसके ज्ञान, दर्शन, सुख, शक्ति चरम विकासको प्राप्त हो गए हैं वे परमात्मा कहलाते हैं। इन सबमें सर्वोत्कृष्ट आत्मा है परमात्मा।

परमात्मा दो पदोंमें पाये जाते हैं। एक शरीर अवस्थामें और एक अशरीर अवस्थामें। सशरीर अवस्थामें जो परमात्मा होता है उसे कहते हैं अरहंत और जो शरीररहित अवस्थामें होता है उसे परमात्मा को कहते हैं सिद्ध। दोनों ही परमात्मा हैं। ज्ञानमें किसी के अन्तर नहीं है। अरहंत और सिद्ध दोनों ही ज्ञानसे समान हैं। अरहंतके भी केवल ज्ञान होता है और सिद्ध भगवानके भी केवलज्ञान होता है। केवलज्ञानके द्वारा अरहंत समस्त लोकालोकको जानते हैं। केवलज्ञान द्वारा समस्त लोक अलोकको सिद्ध भगवान जानते हैं। समस्त लोकालोकके जानने वाले अपने आत्मा को दरशमें लेते हैं अरहंत भगवान, वैसे ही अपने सर्वज्ञ आत्माको दर्शनमें लेते हैं सिद्ध भगवान। वह दर्शन भी जैसा अरहंत भगवानका है, वैसा ही सिद्ध भगवानका है।

अब आनन्द की बात देखो जैसा आनन्द अरहंत भगवानका है, वैसा ही आनन्द सिद्ध प्रभुका है। अपने आत्माके आश्रयसे उत्पन्न हुआ आनन्द अरहंत भगवानमें है, सो ही आत्माके आश्रयसे उत्पन्न हुआ

आनन्द सिद्ध भगवानके है। आनन्द में भी अरहत और सिद्ध के रंच अन्तर नहीं है। इसी तरह शक्ति–आत्माकी शक्ति आत्माके गुणों को विकसित बनाती है। तो जैसे अरहत भगवानकी शक्ति उनके गुणोंको पूर्ण विकसित बनाए है इसी प्रकार सिद्ध भगवानके गुणोंको भी सिद्धभगवानकी शक्ति पूर्ण विकसित बनाए है। शक्तिमे भी अरहत और सिद्धमें अन्तर नहीं है।

आप लोगोंने दोनों तरहकी मूर्ति देखा होगा। अरहंतकी मूर्ति तो पुरुषके आकार पुरुषके जैसे अगों वाली मूर्ति होती है और सिद्ध भगवान की मूर्ति एक पीतलके पत्ता पर जो आकार मात्र खुदा होता है वह है सिद्ध की मूर्ति। इन दोनों ही मूर्तियोंमें क्या बात बतलायी गई है कि अरहंतके तो है शरीर और सिद्धके शरीर नहीं होता। सिद्ध भगवान जिस शरीरसे छूटकर मोक्ष गए उस शरीरके आकार ही उनके आत्मप्रदेश फैले हुए होते हैं। हैं दोनों ही भगवान—एक सशरीर और एक अशरीर। भगवान कहते हैं ऐसे आत्माको जो पूर्ण निर्दोष है और पूर्ण गुणसम्पन्न है। इस लोकमे उसका ही तो आदर होता है जिसमें दोष न रहे हों और गुण पूरे प्रकट हो गए हों। जो बड़े पुरुष कहलाते हैं उनमे यह ही बात पायी जाती है कि दोष तो कम हैं और गुण अधिक हैं और जो भगवान हो गए हैं उनमें दोष एक भी नहीं है और गुण सब प्रकट हो गए हैं। तो जो पूर्ण निर्दोष हैं, पूर्ण गुणसम्पन्न हैं उन्हे कहते हैं भगवान।

हम भगवानकी क्यों भक्ति करते हैं? भगवानकी भक्तिका आप लोगों का क्या प्रयोजन है जो सुबह रोज नहाकर आते और इतना कष्ट करते, पूजा करते, समय लगाते, इसका क्या प्रयोजन है? किसलिए तुम भगवान की भक्ति करते हो? क्या परीक्षामें पास होने के लिए? नहीं। तो क्या अच्छी तरहसे सुखसे रहने के लिए? नहीं। तुम पूजा इसलिए करते हो कि हे प्रभु! हम भी तुम्हारे ही तरह दोषरहित हो जाएँ और पूर्ण गुण सम्पन्न हो जायें। हमारी आत्मामें भी ऐसी ही शक्ति है जैसी शक्ति तुममें प्रकट हुई है, मेरी शक्तिका विकास कैसे हो, इसके लिए तुम प्रभुस्वरूपकी पहिचान करने के लिए आते हो, पूजा करते हो, उनके गुणों पर दृष्टि देते हो।

जो मुनि परमात्माकी भक्तिमें तत्पर है और विषयोंमें रंच भी नहीं रमते हैं वे परमात्माके प्रकाश करने वाले केवलज्ञानके योग्य होते हैं। इन्द्रियके विषयों में रमना तो बरबादी का ही कारण है। जैसे खूब चटपटी चीज खानेका शौक रखते, बढ़िया भोजन मिले, इसमें खुश रहते, इस

तरहकी हठ है जीवोंकी। अरे जैसा समय पर मिले खा लो, शुद्ध होना चाहिए। जो चीज खावोगे उसीमें स्वाद आयेगा। यह तो भूल है कि पूड़ी हलुवेमें स्वाद ज्यादा है और रोटी दालमें स्वाद कम है। खूब समझलो, देख लो, रोटी दालमें स्वाद अधिक है और पूड़ी हलुवेमें स्वाद कम है। पर आसक्ति जीवमें ऐसी लगी है कि उसे यह मालूम पड़ जाय कि इसमें खर्चा बहुत हुआ है, इसके खानेमें तो स्वाद ज्यादा लगता है। तो स्वाद तो कल्पनासे ही उसमें ज्यादा बना लिया जाता है। जिस चीजमें खर्च ज्यादा हो गया उसमें स्वाद ज्यादा समझते हैं पर दाल रोटीका स्वाद हलुवा पूड़ी आदिसे अधिक है।

मिठाई खाकर आप ऊब जायेंगे। ज्यादासे ज्यादा आप मिठाई कितनी खा लेंगे? क्या आध सेर? नहीं क्या तीन पाव? नहीं क्या डेढ़ पाव? नहीं, पाव भर तो खा लेंगे और दाल रोटी तो पेट भर खा लोगे। तो बतावो स्वाद किसमें ज्यादा रहा? दाल रोटीमें स्वाद ज्यादा रहा। मगर जोवकी आसक्ति ऐसी बुरी है कि वह जो सात्विक चीज है, स्वादिष्ट चीज है उसमें स्वाद कम मानता है और जो बुद्धिको भी अव्यवस्थित बनाती है, आलस्य भी आता है ऐसे भोजनमें स्वाद अधिक मानता है। जरा जिस भोजनमें स्वाद अधिक माना है उसको चार दिन खाकर तो देखो, जी ऊब जायगा। देखो यदि कहीं विवाह आदि होता है तो उसमें लाग मिष्ठान्न पकवान खाते हैं तो बहुतसे लोग बीमार हो जाते हैं और न्याययुक्त स्वादिष्ट चीज, सात्विक चीज जिन्दगी भर खाते रहो तो भी बोमार नहीं हो सकते।

सो भैया! विषयोंमें रमना उत्तम बात नहीं है। इसी तरह सुगंधित तेल फुलेलोंकी बात है। जो तेल खूब सुगंध करे उसको सिरमें लगाएँ, नाकमें सूँघें इत्रका फुवा करें, वे क्या कोई अच्छा करते हैं? वे तो अपना उपयोग ही बिगाड़ते हैं। इस मनको ज्यादासे ज्यादा समय भगवानकी भक्तिमें लगाना चाहिए। हालाकि यह मन बहुत कम प्रभुकी भक्तिमें लगता है पर प्रभुकी भक्तिसे कुछ मिलेगा, पुण्य मिलेगा, धर्मकी दृष्टि मिलेगी। बाहरी वस्तुवोंके पीछे पड़कर तो इस जीवको मिलेगा कुछ नहीं। बल्कि समय ही बरबाद होता है।

इसी तरह आखोंका विषय है खेल देखना, सिनेमा देखना, कोई नाटक वगैरह देखना —ये सब तो आखों को दुःख देने वाले ही हैं। प्रथम तो देखो कितने कष्ट देखनेमें उठाने पड़ते हैं? आखें खोलकर एकटकी लगाकर देखना पड़ता है। जसे तुम लोग गुरुकुलमें हो तो अध्यापकोंसे

छिपकर जाना पड़ना होगा और वहां देखनेमे भी एकटकी लगाकर देखना पड़ता है। एकटकी लगाकर देखनेसे आंखोंमे कमजोरी भी आ जाती है। इन आंखोंसे विशिष्ट रूप देखनेका मनमे शौक होता है मगर एकटक लगा कर देखनेसे तो आंखें कमजोर हो जाती हैं। मन भी मलिन किया और परपदार्थोंकी ओर दृष्टि भी गयी, तो परकी ओर दृष्टि जानेसे इस आत्माने प्रभुका सग भी छोड़ दिया। तो नेत्रका विषय भी जीवको उपकारी नहीं है।

कानका विषय भी इसी तरहका है। सुन्दर राग सुना, प्रेमके शब्द सुने, प्रशंसाके शब्द सुने ये सब कानके विषय हैं। तो कानके विषयसे भी इस जीवको मिलना क्या है? आत्माको कभी अद्भुत आनन्द जगे, स्वाधीन आनन्द जगे तो लाभ समझना चाहिए और जहां क्लेश हों, ऊब जावोगे वहा, जहा सक्लेश ही बनाने पड़ें हों वहां दु ख ही समझना चाहिए। इसी तरह स्पर्शन इन्द्रियका विषय अहितकर है। ऐसे पचेन्द्रिय के विषयोंमें जो रमता है वह पशु पक्षी बनता है, एकेन्द्रिय, विकलत्रय बनता है, जन्म मरण करता है और ससारमें दुःखी होता रहता है। जो जीव विषयोंमे नहीं रमता, परमात्माकी भक्तिमे ही अपना चित्त लगाता है वह मुनि परमात्मप्रकाशके योग्य होता है।

यहा परमात्मप्रकाश शब्दके दो अर्थ हैं। एक तो इस परमात्मप्रकाश ग्रन्थके अभ्यास करनेके योग्य होते हैं और परमार्थका अर्थ यह है कि परमात्मप्रकाश मायने शुद्ध आत्माका स्वभाव। वह शुद्ध आत्मस्वाभाव के योग्य होता है। यह उत्कृष्ट बात उनमें कैसे प्रकट हुई? उन्होंने विषय रहित ज्ञायकस्वभावी मात्र निज परमात्मतत्त्वका अनुभव किया है उस अनुभवसे उन्हें अतीन्द्रिय परमानन्द सुखका स्वाद मिला है। उस ही स्वाधीन आनन्दसे वे तृप्त हैं। सो जिनको अपने आत्माके स्वरूपवेदनको देखते हुए आनन्द मिला है, जिन भव्य जीवोंको सुलभ और मनोहर बुद्धि मिली वे विषयोंमे नहीं रमते। वे तो भगवानकी भक्तिमें ही तत्पर रहते हैं, उन जीवोंको परमात्माका प्रकाश प्राप्त होता है। इसी बातको एक दोहेमें और कहते हैं।

णाणवियक्खणु सुद्धमणु जो जणु एहउ कोइ।
सो परमप्पपयासयहँ जोग्गु भणंति जि जोइ॥ ॥२०६॥

जो प्राणी स्वसम्वेदन ज्ञान द्वारा बुद्धिमान् है, जो इस अनुभूतिके विरोधक रागादिकसे दूर है अर्थात् जिसका मन शुद्ध है, विकल्प जालोंसे रहित है ऐसा कोई भी ज्ञानी संत हो उसे परमात्मप्रकाशके योग्य ऋषि

मन बनाते हैं। जैसे जीव कुछ न कुछ जानता रहता है— चौकीको जाना, घड़ीको जाना, भींतको जाना, सो आत्मा भी तो कुछ चीज है। कोई आत्माको ही जानता है। जो जीव आत्माको ही जानता है उसे कहते हैं स्वसम्वेदन ज्ञानी। जो स्वसम्वेदन ज्ञानी पुरुष है वह कभी परमात्माका शुद्ध स्वरूप पा ही लेगा। परमात्माका प्रकाश क्या है? ज्ञान और दर्शन। वह ज्ञान और दर्शन जिसके द्वारा तीनों लोक और अलोकको जाने जानते हैं ऐसा अद्भुत प्रकाश उनको प्राप्त होता है जो शुद्ध परमात्मस्वरूपका भाव बनाते रहते हैं।

मैं शुद्ध हूं, ज्ञायकस्वरूप हूं, केवल जाननरूप हूं ऐसा जो अपनेको स्वरूपरूपमें एकमेक कर सकता है वह ही केवलज्ञान और केवलदर्शनको प्राप्त कर सकता है। जो परमात्माके प्रकाशको प्राप्त कर सकता है वह एक तो स्वसम्वेदन ज्ञानद्वारा कुशल होता है, चतुर होता है। दूसरे वह शुद्ध मन वाला होता है। शुद्धमन उसे कहते हैं जिसके मनमें रागद्वेष मोहरूपी कोई विकल्पजाल न बसता हो। यह विकल्पजाल परमात्माकी अनुभूतिमें विघ्नभूत तत्त्व है, सो ऐसे विकल्पजालोंको त्याग कर अपने आप के आत्माका ज्ञान करके जो कोई पुरुष अपने आपको परमात्मस्वरूप भाते हैं वे परमात्मप्रकाशके योग्य होते हैं।

भैया! अग्नि जलानेके दो तरीके हैं एक तो आगसे ईंधनको छुवा देना, जैसे दीपक जलानेका तरीका बातीको जले हुए दियासे छुवा दें तो वह बाती जलती रहती है। कोयलेमें आग जला दिया तो कोयला जलने लगता है। तो आग जलानेका पहिला तरीका तो यह है कि उस ईंधनमें आग डाल दें। आगसे ईंधनका सम्बन्ध कर दिया तो आग जलती रहती है और आग जलानेका दूसरा तरीका क्या है कि जंगलमें खड़े हुए बांस बड़ी तेज हवा चलनेसे एक दूसरेमें रगड़ते हैं, तो बांसोंको परस्परमें रगड़ने से आग पैदा हो जाती है, पत्थरमें पत्थर मारते हैं तो आग जलती है। चकमक होता है ना, उसे पत्थरमें मारते हैं तो आग जलने लगती है। वहां आगका सम्बन्ध नहीं है, मगर परस्परमें रगड़से आग जल उठती है।

इसी तरह प्रभु स्वरूप प्रकट करने के दो तरीके हैं। तरीका तो उनमें आखिरी एक ही है, मगर एक कुछ पूर्वका तरीका और कुछ पूर्वका भी और अन्तका भी तरीका। तो प्रभुता प्रकट करनेके दो तरीके हैं पहिला तो यह कि जो परमात्माका स्वरूप है, अरहंत सिद्धका स्वरूप है उनके स्वरूपमें अपने उपयोगको ले जायें, यह तो हुआ इस तरह कि जैसे

ईंधनको आगसे छुवाया और आग जल उठे। इसी तरह अपने उपयोग को परमात्माके स्वरूपमें लगायें तो परमात्मस्वरूप प्रकट हो गया और दूसरा तरीका यह है कि अपने आपके आत्माका जो सहजस्वरूप है उस स्वरूपको ही अपने उपयोगमें लगायें तो परमात्मत्व प्रकट हो जाता है। यह परमात्मापन अपने आपकी उपासनासे प्रकट हो जाता है।

तो जिसे अपनी प्रभुता चाहिए उसे दोनों ही उपाय करने चाहियें। परमात्माके गुणोंका चिंतन करें, उनके स्वरूपकी भक्ति करें, उनकी शुद्ध मुक्तिका विकास देखकर अपने चित्तमें हर्ष उत्पन्न करें, अपनी निर्मलता बढ़ायें, और कभी अपने आपकी शक्तिका ध्यान करके अपने स्वभावका परिचय पाकर अपने आपमें अपने को एकरस करें तो इस तरह परमात्माकी उपासना और इस निज आत्मतत्त्वकी आराधना—इन दोनों उपायोंको करते हुए हम अपने आत्माका विकास कर सकते हैं और कभी परमात्माका भी प्रकाश पा सकते हैं जिस प्रकाशके द्वारा परमात्मा समस्त लोक और अलोकको स्पष्ट जानता है। अध्ययन करनेका, शिक्षा लेनेका यही उद्देश्य है मूलमें कि मेरा आत्मा दोषोंसे पूर्णतया रहित हो जाय और गुणोंसे पूर्ण सम्पन्न हो जाय। इतने ही मात्र उद्देश्यके लिए प्रभुकी भक्ति है, गुरुवोंकी सत्सगति है और ज्ञानकी आराधना है।

भैया! एक आत्मदर्शनका यह प्रयोजन न रहा और संसारी जीव के अन्य-अन्य बातें हो गयीं, इससे आत्माको लाभ अन्य कुछ न मिलेगा। यह सारा समूह और ये समागम सब एक दिन मिट जाने वाले हैं। यहांके लोगोंको खुश करने के लिए ही यदि इसने अपना श्रम किया तो उससे आत्माने लाभ कुछ नहीं उठाया। यदि सभी व्यवहार धर्मोका उद्देश्य अपने आपकी आत्माकी निर्मलता उत्पन्न करना बनाएँ तो उससे इस आत्माका कुछ लाभ भी होगा। क्या लाभ होगा? अनाकुलता प्राप्त होगी। जहा दोष नहीं रह गये और गुण प्रकट हो गए वहां आकुलता न आयेगी। तो ऐसी अनाकुलता प्राप्त करनेका ही हमे उपाय बनाना चाहिए।

यह परमात्मप्रकाश ग्रन्थ है, इसमें परमात्म स्वरूपका वर्णन है। परमात्मस्वरूप दो जगह देखा जाता है एक तो अरहंत सिद्ध भगवानमें और एक अपने आत्मामे। दोनोंके स्वरूपमे परमात्मस्वरूप जिसकी दृष्टिमें आ जाता है वह ज्ञानी है और वह ससारसे नियमसे छूट जाता है। जिसकी दृष्टिमें अपने आपके परमात्मस्वरूपका परिचय हो जाय उसको

भगवान्का परमात्मस्वरूप भी दिख जाता है और जिसको भगवान्का परमात्मस्वरूप दिख जाता है उसको अपना भी परमात्मस्वरूप दिख जाता है। अपना भीतरसे मन दो जगह टिकाना है— एक तो भगवानके स्वरूप पर, दूसरे आत्मास्वरूप पर। तीसरे को मन नहीं सौंपना है। यह मन सौंपना तो केवल दो को है, तीसरेको नहीं सौंपना है। बाकी जितने भी मित्रजन हैं, परिवारजन हैं, व्यवहारीजन हैं इनसे काम पड़ता है, स्नेह भी रखना पड़ता है, व्यवहार भी रखना पड़ता है, फिर भी यह जानते रहो कि मन तीसरी जगह नहीं सौंपना है। केवल भगवान और अपना आत्मा इन दोको सौंपना है। क्योंकि तीसरा कोई भी पदार्थ मेरे लिए रक्षक नहीं है, शरण नहीं है।

परमार्थसे इन दो को भी खुदका आत्मस्वरूप शरण है पर आत्मस्वरूपके और भगवानके स्वरूपको समानता है। इस समानताके कारण भगवान भी शरण है और अपना आत्मा भी शरण है। तो इस ग्रन्थमें भगवानके स्वरूपका वर्णन न करके आत्माके स्वरूपका वर्णन किया है क्योंकि भगवानका स्वरूप भी आत्मस्वरूपके जानने के लिए होता है। भगवानके स्वरूपके ध्यानके लिए भगवानको नहीं ध्याना है। भगवानके स्वरूपको जानकर आत्माका सहजस्वरूप पहिचानना है, और वह सहजस्वरूप अपने आत्मामें है, पर अपने आपमें अपना आत्मा देखनेका यह तरीका है कि अपने शरीरकी भी दृष्टि न करें, अपने आपमें जो परिणमन उत्पन्न होता है उसकी भी दृष्टि न करें, और बाह्य पदार्थोंमें किसी का भी ध्यान न करें तो यह ज्ञानमय आत्मा अपने उपयोगमें ज्ञानस्वरूपको मिलेगा। और उस समय परमात्मस्वरूपका परिचय होगा।

इस परमात्म प्रकाश ग्रन्थका यह समाप्तिका प्रकरण है। इसके बाद अब आचार्यदेव कुछ प्रशस्तिरूपमें अपने सम्बन्धी अनेक बातें कह रहे हैं। सर्वप्रथम शास्त्रका फल बतलाकर अब अपनी उद्दण्डताका परिहार करते हुए कुछ व्याख्यान कर रहे हैं— अर्थात् अपनी लघुता प्रदर्शित कर रहे हैं। बड़े-बड़े आचार्य देव ऊँचे-ऊँचे ग्रन्थ बनाकर अन्तमें अपनी लघुता बताते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि जो कुछ शास्त्रका रहस्य है यह परम्पराको प्राप्त हुआ है, स्वच्छन्द होकर कुछ मेरे द्वारा खोजा हुआ नहीं है। सर्वज्ञ देवकी दिव्य ध्वनि की परम्परासे जो गणधरोंने और अनेक मुनिराजोंने पहिचान कर कहा वही कहा जा रहा है।

लक्खणछंदविवज्जियउ एहु परमप्पपयासु ।
कुणइ सुहावइँ भावियउ चउगइदुक्खविणासु ॥ २१० ॥

यह परमात्मप्रकाश ग्रन्थ लक्षण और छंदसे रहित है। अब देखो अच्छा तो बनाया है ग्रन्थ। छंदमे कोई कसर नहीं है। अपनी भाषाके समयका यह बहुत अनूठा ऊंचा ग्रन्थ है। फिर भी आचार्य देव कह रहे हैं कि लक्षण और छंदसे रहित यह ग्रन्थ है। फिर भी यह ग्रन्थ चतुर्गतिके दुःखोंका विनाश करने वाला है। इस ग्रन्थमें उस तत्त्वको दिखाया है जिस तत्त्व की दृष्टि होने पर फिर चतुर्गतिके दुःखोंका नाश होता है। जो कोई शुद्ध भावोंसे इस परमात्माके प्रकाशकी भावना करे तो वह संसारसे मुक्त हो जाता है। यह एक अर्थ है।

जो जीव लक्षण और छंदसे रहित परमात्माके प्रकाश का दर्शन करता है वह भगवान बन जाता है। भगवानका जो स्वरूप है उसका नाम है परमात्माका प्रकाश। परमात्माका प्रकाश है केवलज्ञान और केवलदर्शन। सो केवलज्ञान और दर्शनमें छंद तो नहीं है, गाना नहीं है तो वह प्रकाश लक्षण छंदसे रहित है। यहा दो-दो अर्थ चल रहे हैं। परमात्मप्रकाश जो ग्रन्थ है वह लक्षण और छन्दसे रहित है, ऐसा कह-कर आचार्य देवने अपनी लघुता बताई है। और, दूसरा अर्थ यह है कि जो प्रकाश है ज्ञान और दर्शन, उसमे छन्द कहा रखा? वह तो अक्षर रहित है, इसमें वर्ण नहीं। शुद्ध ज्ञान ज्योति स्वरूप है। लक्षण और छन्द से रहित परमात्माके प्रकाशको जो शुद्ध भाव करके भाता है वह चतुर्गति के दुःखोंको नाश करता है।

कितनी चतुराई के साथ यह बात कही कि जिसमें अपनी लघुता भी जाहिर हो गयी कि यह परमात्मप्रकाश ग्रन्थ लक्षण और छन्दसे रहित है और मर्मभी आ गया कि परमात्माका जो प्रकाश है ज्ञान दर्शन, उसमे लक्षण और छन्द नहीं हैं। वह लक्षण और छन्दसे रहित है। सो उस परमात्मप्रकाशकी जो भावना करता है वह ससारसे छूट ही जायेगा। और ग्रन्थके सम्बन्धमे यहा अर्थ यह लगाना कि यद्यपि यह ग्रन्थ लक्षण और छन्दसे रहित है तो भी जो इस शुद्ध ग्रन्थकी भावना करता है, इसके मर्मको पहिचानता है वह भी दुःखोंका नाश कर देता है। यह परमात्म-प्रकाश ग्रन्थ शास्त्रके क्रम और व्यवहारसे और दोहों के छन्दसे और प्राकृतके लक्षणसे युक्त है।

टीकाकार यहां कह रहे हैं कि इसमें कोई कमी नहीं है। जो शास्त्र में क्रम बताना चाहिए वही तो क्रम इसमें है। दोहाका जो छन्द निर्दोष रहना चाहिए वह भी इसमें है और प्राकृत भाषामें जो लक्षण होना चाहिए वह इसमें है, तो भी निश्चयसे देखो तो परमात्म प्रकाशका अ.थ है परमात्मा

का शुद्ध स्वरूप। सो आत्माके शुद्ध स्वरूपमें न लक्षण है और न छन्द है। सो ऐसा लक्षण और छन्दसे रहित होता हुआ यह परमात्मप्रकाश यदि शुद्ध भावनासे भाया जाय तो भी शुद्ध आत्माके सम्वेदनसे उत्पन्न हुआ जो एक विलक्षण वीतराग स्वाधीन आनन्द है उस आनन्दस्वभावसे यह जो आत्मा उल्टा चला गया है, चारों गतियों के दुःखोंको भोगता फिरता है, ऐसे उन समस्त दुःखोंका यह नाश करता है।

देखो भैया! शैली कितनी सुन्दर है कि इसमें कई भाव भाये हैं। एक भाव तो यह है कि इस ग्रन्थमें लक्षण और छन्द नहीं है। यह तो ग्रन्थकार की ओरसे कहा है। तो भी जो इस ग्रन्थके मर्मकी भावना करेगा वह समस्त दुःखोंको नाश कर लेगा। यह एक अर्थ हुआ। दूसरा अर्थ यह है टीकाकारकी ओरसे कि इस ग्रन्थमें लक्षण और छन्द सब ठीक-ठीक हैं, उसमे गल्ती नहीं है, पर यह जो भगवान है या आत्माका जो शुद्ध स्वरूप है उसमें नहीं है लक्षण और छन्द, क्योंकि यह तो चैतन्य-स्वरूप हैं। उसमें न वर्ण है, न अक्षर हैं, न पद है, तो ऐसा जो लक्षण छन्दसे रहित परमात्माका प्रकाश है वह प्रकाश यदि भाया जाय तो चारों गतियोंके दुःखोंका नाश कर देता है।

लक्षण तो हुआ आत्माका चैतन्यस्वरूप, चित् प्रकाश, कुछ भी समझो। किन्तु जब तक भेद भावना रखकर आत्माका लक्षण तकते रहेंगे तब तक आत्माका अनुभव नहीं होता। आत्माका लक्षण ज्ञान दर्शन है, किन्तु जब तक यों देखते रहेंगे कि आत्माका लक्षण ज्ञान दर्शन है तब तक आत्माका अनुभव न होगा। यद्यपि बात सही है कि आत्माका लक्षण ज्ञान दर्शन है, किन्तु केवल एक शुद्ध आत्मा पर दृष्टि नहीं टिक सकी वहां भेद करके लक्षण और लक्ष्यका भेद कर रहे हैं, इसलिए जब यह आत्मस्वरूप अनुभवके द्वारा परिचयमें आता हो वहां लक्षण इसकी दृष्टिमें नहीं रहता।

जैसे एक मोटा दृष्टांत लो कि बढ़िया हलुवा बनाया गया, खा रहे हैं, पर जब तक हलुवाके सम्बधमें यह चर्चा करते रहेंगे कि इसमें बूरा ठीक पड़ा, घी अच्छा पड़ा है तब तक उसका पूर्ण स्वाद अनुभवमें न आयेगा। जब उसकी चर्चा छोड़कर सब ओर से विचार छोड़कर केवल उसके अनुभवमें ही लगेंगे तो उससे उत्कृष्ट स्वाद आता है। आत्माका अनुभव तब आता है जब आत्माका किसी भी प्रकार भेद नहीं रह गया। इसलिए परिचयमें आया हुआ जो शुद्ध आत्माका स्वरूप है वह लक्षणसे भी रहित है और छंदोंसे भी रहित है। आत्मामें लक्षण ही नहीं है तो

छंद कहा से आयें ? सो ऐसा होता हुआ भी इस आत्माकी यदि कोई शुद्ध भावनासे भावना करेगा तो चारो गतियो के दु:खोंका वह विनाश करेगा। ऐसी प्रशस्तिमे प्रथम ही प्रथम द्रव्यार्थक ढंगसे ग्रन्थकी ही बात कहकर अब योगीन्दुदेव अपनी उद्दण्डताका परिहार करते हैं।

इत्थु ण लेवउ पंडियहिं गुणदोसुवि पुणरुत्तु ।
भट्टपभायरकारण हूं मइँ पुण पुणवि पउत्तु ॥२११॥

यहां योगीन्दुदेव कहते हैं कि हे भव्यजीव ! इस ग्रन्थमे पुनरुक्ति का दोष न ग्रहण करना। यह वर्णन कई महीनेसे चल रहा है और आप लोगोंने कई बार सुना है। ऐसा लगना होगा कि रोज रोज एक ही बात परमात्मसम्बंधी आती है। एक ही बात बार-बार कहनेसे पुनरुक्ति दोष होता है, याने जो कल कहा था वही आज कहा जा रहा है तो पुनरुक्ति दोष हो गया। एक बार आटा पिसा लिया चक्कीसे, पिसा चुकनेके बाद फिर पिसाएँ, फिर उसे पिसायें, ऐसा यदि कोई करे तो उसे बुद्धिमान् कौन कहेगा ? इस ग्रन्थमें वही वही बात बार-बार आती है। तो इसमें शायद लोग यह सोचेगे कि यह तो कोई बुद्धि और विवेकका काम नहीं है कि वही बात रोज-रोज कहें। तो ऐसी शंका दूर करनेके लिए योगीन्दु देव यह कह रहे हैं कि यद्यपि यह बात बार-बार आयी है किन्तु यह दोष-रूप नहीं है क्योंकि एक बार कहकर यदि श्रोता लोग इस बात पर टिक जायें, निर्विकल्प हो जाये, अपना कल्याण कर जायें या हम ही अपना कल्याण और संतोष करलें तब तो बार बार कहने की जरूरत नहीं है, पर ये जगतके प्राणी अध्यात्ममे मन लगाये नहीं रह पाते हैं क्योंकि उन के अनेक झंझट हैं सो उनके लिए एक बातको बार बार कह कर सम्बोधना कोई दोष नहीं है।

जैसे दाल रोटी रोज रोज खाते हैं तो उसे रोज रोज खाना लोक मे कोई दोष तो नहीं माना जाता है। इसी तरह अध्यात्मशास्त्रका उपदेश है, वही कल हुआ था, वही महीनोसे हो रहा है मगर सुननेके बाद ये जीव अध्यात्मसे नहीं रहते हैं, रागद्वेषमें फिर पड़ जाते हैं इसीलिए रोज रोज वही बातें कहनेकी जरूरत पड़ती है। इसलिए यहा पुनरावृत्ति दोषका परिहार समझना, ग्रहण न करना और कविकी जो कला है उस कला को गुणमे लेना। हम अपने गुण बतानेके लिए यह ग्रन्थ नहीं बना रहे हैं। मुझे यह चाह नहीं है कि इसमें कलापूर्ण वर्णन है ऐसा लोग जानें हमे यह नहीं जताना है अथवा कहीं कलापूर्ण वर्णन न हो तो ऐसा

खेद खिन्न न होना कि इसमें ज्ञानात्मक वर्णन ही नहीं है, इसके अन्दर वह भाव है कि जिस भावका यदि यह जीवआश्रय लेवे तो ससारसे तिर जाय।

आचार्यदेव कहते हैं कि मैंने तो यह ग्रन्थ प्रभाकर भट्ट के लिए बार बार समझाने के लिए कहा है। इसमें जो वीतराग परमात्माका तत्त्व बार बार कहा गया है वह प्रभाकर भट्टके समझाने के लिए कहा गया है। पहिले समयमें किसी भक्त पर साधुका अधिक अनुराग हो तो साधु क्या करेगा? भक्तका अनुराग है तो वह आहार करायेगा, सेवा करेगा, पर साधुजन यदि किसी भक्त पर खुश हो जाते हैं तो साधु क्या करेंगे? उपदेश देंगे और उपदेश देने के निमित्त कोई ग्रन्थ भी बना देंगे। तो योगीन्दुदेव ने प्रभाकर भट्ट पर प्रसन्न होकर इस ग्रन्थकी रचना की है।

जैसे एक समाधिशतक नामका भावना ग्रन्थ है। तो समाधिशतक ग्रन्थमें भी उसी आत्माकी चर्चा बारबार कई रूपोंमें कही है। तो जो अध्यात्मग्रन्थ होता है उसमें आत्माकी चर्चा कई रूपोंमे बारबार कही जाती है, इसलिए उसमें पुनरावृत्ति का दोष न समझना। क्यों न समझना कि इसका जो अर्थ है, प्रयोजन है वह यह है कि आत्माकी बातबार बार चिंतन करें, बारबार इसका विचार बनाएँ, ऐसा जानकर प्रभाकर भट्ट को कहने के निमित्त से समझा कर मनुष्योंके सुखपूर्वक बोध देने के लिए यह जो आत्मतत्त्व है यह बारबार कहा गया है।

यह आत्मतत्त्व तीन प्रकार का है—बहिरात्मा, अतरात्मा और परमात्मा। अपने आत्माको छोड़कर और को जो आत्मा मानता है वह है बहिरात्मा, और जो अपना अत स्वरूप है उस आत्माको जो जानता है वह है अन्तरात्मा, और जो उत्कृष्ट निर्दोष गुणसम्पन्न आत्मा है वह कहलाता है परमात्मा। इस प्रकार बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा ये तीनों तत्त्व प्रत्येक जीवमें पाये जाते है। सिद्ध भगवानमें कैसे पाये जाते हैं कि सिद्ध भगवान सबसे पहिले बहिरात्मा थे। कोई सिद्ध ऐसा नहीं है जो बहिरात्मा न हो—मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी ससारी वे थे पहिले फिर उन्होंने अज्ञानका विनाश करके अन्तरात्मा पद पाया। अर्थात् अपने आत्माके अंत स्वरूपका परिचय किया। फिर अन्तरात्मामे उत्कृष्ट अन्तरात्मा बनकर, ज्ञानी, ध्यानी, तपस्वी, आत्मा बनकर चारों कर्मोंका विनाश किया तब वे परमात्मा हुए, और फिर चार घातिया कर्मोंको भी नाश करके सिद्ध भगवान हुए।

इस तरह सिद्ध भगवान भूतकालकी अपेक्षा बहिरात्मा और अन्तरात्मा है व वर्तमानकी अपेक्षा परमात्मा है। यह जो सम्यग्दृष्टि है भूतकालकी अपेक्षा बहिरात्मा है और वर्तमानकी अपेक्षा अन्तरात्मा है क्योंकि परिणतिमें वह ज्ञानी है और भविष्यकालकी अपेक्षा परमात्मा है क्योंकि जो ज्ञानी होता है वह नियमसे परमात्मा होगा। इससे बड़ा जो अन्तरात्मा पुरुष है वह भी भूत भविष्यकी अपेक्षा बहिरात्मा और परमात्मा है। अब जो जीव बहिरात्मा हैं, अज्ञानी हैं, मिथ्यादृष्टि हैं, बाहरी पदार्थोंमें ही आत्मस्वरूप मानते हैं वे भी तीनों हैं—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। वे यद्यपि वर्तमान अपेक्षासे बहिरात्मा ही हैं, लेकिन उनमें मुख्यता है कि वे ज्ञानी बन सकते हैं, बहिरात्मा हो सकते हैं और उनमें शक्ति है कि वे परमात्मा हो सकते हैं। इस तरह शक्ति की अपेक्षा वह अन्तरात्मा भी है और परमात्मा भी है।

अच्छा और भी देखो—जो अभव्य जीव है, जिसमें कभी सम्यक्त्व नहीं आ सकता और न कभी मोक्ष पा सकता, उसीको तो अभव्य कहते हैं, जो कभी भगवान नहीं बन सकता। उस अभव्य जीवको भी क्या तीनों प्रकारका आत्मतत्त्व है ? तो हा है, क्योंकि वे भी आत्मा हैं, चेतनस्वरूप हैं, सहजस्वरूप ज्ञायकभाव है। जो उसका सहजस्वरूप है वही परमात्मत्व शक्ति है, क्योंकि परमात्मा जो हो जाता है वह भी कुछ नयी चीज नहीं बनता, किन्तु यह ज्ञायकस्वभाव ही निर्दोष प्रकट हुआ है। तो इस तरह जो अभव्य जीव है उसके अन्दर भी शक्तिकी अपेक्षा अन्तरात्मा है और परमात्मापन है, यों सर्वजीवोंमें तीनों प्रकारका आत्मतत्त्व है, इस लिए तीनों प्रकारके आत्मतत्त्वोंका वर्णन करने वाला यह जो परमात्मप्रकाश ग्रन्थ है यह प्रभाकर भट्टके लिए हमने बनाया है और दूसरे जनोंको भी सुखपूर्वक बोध करानेके लिए जिससे सभी जीव लाभ उठा सकें इस ग्रन्थ को बनाया है। इस कारण इसमें कला न हो, पुनरुक्ति हो तो भी दोष ग्रहण न करो, ऐसा आचार्यदेव अपनी उद्दण्डताका परिहार करते हैं।

जं मइँ किं पि विजंपियउ जुत्ताजुत्तु वि इत्थु।
तं वर णाण खमतु महु जो बुज्झहु परमत्थु ॥२१२॥

परमात्मप्रकाशकी समाप्ति पर योगीन्दुदेव कह रहे हैं कि जो कुछ इस ग्रन्थमें युक्त और अयुक्त मेरे द्वारा कहा गया हो, सो जो उत्कृष्ट ज्ञानी-जन हैं वे परम अर्थके जानने वाले होते हैं, सो मेरे ऊपर क्षमा करो। इतने उठे योगीन्दु आचार्य हैं और परमात्मतत्त्वको बड़े निर्दोष स्वभावमें कहकर अंतमें अपनी लघुता बताते हैं कि जो कुछ युक्त और अयुक्त मेरे

द्वारा कहा गया हो सो विद्वत्जन मुझपर क्षमा करें। जिन विद्वज्जनोंसे कहा जा रहा है कि जो परमार्थको जानते हैं— परमार्थ जगत्में क्या है? एक शुद्ध आत्मस्वरूप। उस आत्माका सहज जो स्वरूप है ज्ञायकभावमय उसका जिन्हें अनुभव हुआ है ऐसे विद्वतजनोंको कह रहे हैं। निर्दोष आत्माका वर्णन करके भी आचार्य अपनी लघुता बताते हैं।

जो प्रभु अनन्त चतुष्टय सम्पन्न है वह है व्यक्त अनन्त चतुष्टय सम्पन्न और इतर सब जीव हैं सहज अनन्त चतुष्टयसम्पन्न अरहंत और सिद्ध प्रभुमें अनन्त ज्ञान व्यक्त है, तो हम आप सब आत्मावोंमें सहज अनन्त ज्ञान है। जैसा प्रभुमें व्यक्त अनन्त दर्शन है इसी प्रकार हम सब आत्मावोंमें सहज अनन्त दर्शन है। प्रभु परमात्मामें व्यक्त अनन्त आनन्द है तो हम सब जीवोंमें सहज अनन्त आनन्द है। प्रभुमें व्यक्त अनन्त शक्ति है। तो सब जीवोंमें सहज अनन्त शक्ति है। रागादिक दोष रहित अनन्त चतुष्टय सम्पन्न शुद्ध आत्मतत्त्वको जो जानते हैं ऐसे योगीन्द्र पुरुष इस योगीन्द्र पर क्षमा करें। यदि कुछ युक्त अयुक्त कह रहे हों उसे विशिष्ट ज्ञानी शुद्ध करें। विशिष्ट ज्ञानमें ज्ञान उसे कहते हैं जो ज्ञान वीतराग निर्विकल्प निज सहज आत्मतत्त्वका सम्वेदन करता है। ऐसा ज्ञान जिसके प्रकट हुआ है ऐसे विद्वज्जन हमारे इस निर्माणमें यदि कोई दूषण हो तो उस दूषणको क्षमा करें। अब अंतमें इस ग्रन्थके पढ़नेके फल को बताकर फिर अगले छंदमें मंगलादिक आशीर्वाद रूपसे नमस्कार करेंगे। यह स्रग्धरा नामका छंद है, बड़ा छंद है।

जं तत्तं णाणरूवं परममुणिगणा णिच्च झायंति चित्ते।
जं तत्तं देहचत्तं णिवसइ भुवणे सव्वदेहीण देहे॥
जं तत्तं दिव्वदेहं तिहुवणगुरुगं सिज्झए संत जीवे।
तं तत्तं जस्स सुद्धं फुरइ णियमणे पावए सो हि सिद्धिं॥२१३॥

वह निज आत्मतत्त्व जिनके मनमें स्फुरायमान हो जाता है वे ही साधु सिद्धिको प्राप्त करते हैं। देखो अपने आपके ही अन्दर अनन्त आनन्द विराजमान् है। फिर भी इस शुद्ध ज्ञायकस्वभावी ध्रुव आत्मतत्त्व का परिज्ञान जगतके जीवोंको क्यों नहीं हो रहा है? सर्वसिद्धि ऋद्धि समृद्धि अपने आपके अन्दर पड़ी है, अपनेमें न हो तो कभी प्रकट ही नहीं हो सकती। फिर भी कितने खेदकी बात है कि इस मनको इतना स्वच्छन्द बनाया है, इन्द्रियोंको इतना स्वच्छन्द बनाया है कि आनन्दनिधान ज्ञायक स्वरूप प्रभु स्वयं अपने आप है, किन्तु अपनेको दीन समझते हुए जगत्में यत्र तत्र जन्म मरणके दुःख भोगते रहते हैं। जैसे कोई लकड़हारा अपने

कपडेमें बांधे हुए लालको समझता है कि यह एक चमकीला पत्थर है सो वह अपना जीवन कष्टोंमे ही गुजार देता है, उस लालका लाभ नही ले पाता है।

ये जितने मायारूप परिणमन हैं ये सब मेरे परिणमन हैं, पर ये मैं नहीं हू। यह मेरा उपाधिवश मायारूप परिणमन है। मै तो परमार्थ शुद्ध चैतन्यस्वरूप हू, पर अपने आपको न जानकर और इस मायामय शरीरको ही आत्मा समझकर ऐसी दौड इन पर पदार्थोंकी ओर लगा रहे हैं कि अपने आपका ख्याल ही नही होता। जैसे काचमे ऐनाके आगे कोई चिड़िया बैठी हो तो उस चिडियाको दर्पणमें दर्पणकी चिड़िया दीखती है, अपना प्रतिबिम्ब दीखता है, सो उस प्रतिबिम्बको चोंचोंसे मारती है। वह दर्पण पर बैठी हुई चिड़िया उस प्रतिबिम्बित चिडियाको देखकर अपनी चोंच मारती है। वह चिड़िया अपने आपको भूल गई और उस दर्पणमे ठोकर लगाती है। परकी ओर उसकी दृष्टि है।

जैसे बंदर लड्डू भरे हुए घडेमें हाथ डालता है, दोनो मुट्ठियोमे लड्डू भर लेता है और फिर एक साथ ही दोनों हाथोंको उस घडेसे निकालता है। जब दोनों हाथ एक साथ नहीं निकल पाते हैं तो वह उछलता कूदता है। तो जैसे धोखेमे आकर वह बंदर परेशान हो रहा है इसी तरह हम आप ये जगतके प्राणी धोखेमे आकर अपना जीवन बिगाड रहे हैं। उस बंदरमे अज्ञानता है। उसे यह भ्रम हो गया है कि इस घडे ने मुझे पकड लिया है। वह यह नहीं जानता है कि मैंने ही तृष्णा करके दोनों हाथोंमे लड्डू पकड लिये हैं सो दोनों हाथ एक साथ नहीं निकल पाते हैं। सो अपने आपकी अज्ञान करतूतीका ज्ञान न होने से वह चिल्लाता है, दौड़ता है, इसी प्रकार यह आत्मा परवस्तवों पर दृष्टि डाल डाल कर परेशान हो रहा है। यह मेरे अनुकूल नहीं परिणमता, यह हमे नहीं मिला ऐसा परकी ओर सोच-सोचकर दौड़ रहा है। इस विश्वासमे अपने आपको भूल गया है और दुःखी होता है। और उस दुःखमें नाम लगाता है दूसरे पदार्थका। इसने मुझे दुःखी किया।

अज्ञानी जीव यह नहीं जानता कि मैंने ही कल्पना कर डाली है और उस कल्पनासे ही मैं स्वयं दुःखी हो गया हूं इस बातको नहीं जानता यह अज्ञानी जीव। और जगतमें रुलते रुलते बड़ी कठिनाइयोंसे यह मनुष्य जन्म पाया तो इसका महत्व यह जीव नहीं समझता। भला जगतके तुच्छ जन्मोंके आगे पशु पक्षी आदि ऐसे जन्मोंके आगे मुकाबला करके देखो इस मनुष्य जन्मका कितना बड़ा मूल्य है? यह इस मनुष्य जन्म

मानेका मूल्य नहीं समझता और विषय-कषायके संस्कारोंमें अपने आप को जुटा जुटाकर अपने स्वरूपसे अपरिचित होकर इस दुर्लभ मनुष्य जन्मको बरबाद कर रहा है। जैसे देहाती भीलोंको जिन्हें मणियोंकी पहिचान नहीं है उन्हें जंगलमें कभी कोई गजमुक्ता मिल जाय तो उसे वे पैरका घिसना समझते हैं— वही पैरका घिसना जो चार पैसेका बाजारमें मिलता है। सो उनके पैर घिसनेके काममें वह आयेगा। ऐसा जानकर जो एक घिसनाका मूल्य है उसके बराबर उसे समझता है। यदि इस मणिको वह पहिचान जाये तो वह लखपति, करोड़पति हो जाय। पर उस दुर्लभ मणिकी कीमत न समझ कर पैरोंके घिसनेमें वे लकड़हारे काममें लेते हैं। इसी तरहकी बात इन अज्ञानी जीवोंमें है।

भैया! दुर्लभतासे तो यह नरजन्म पाया और इसने पशुपक्षी की ही भांति विषय कषायोंमें अपना जीवन बिता दिया। इस मनुष्य-जन्मको पाकर क्या हाथ लगा, सो बतलावो। लगाना तो था अपने आत्मतत्त्वमें उपयोग। किन्तु जगत्‌के जीव करने क्या लगे? विषयकषायोंमें उपयोग लगाने लगे। यहां योगीन्दुदेव ग्रन्थ पढ़नेका फल बता रहे हैं कि जिसके मनमें वह निज आत्मतत्त्व जिसको कि इस ग्रन्थमें अनेक बार कह कहकर बताया गया है उसको जो मनमें धारण करते हैं वे ही सिद्धिको प्राप्त होते हैं।

खूब निरख लें अपने मनमें धारण करने योग्य चीज क्या है? एक एकके उदाहरण ले लो, हम अपने मनमें ईंट पत्थरका घर बसाये रहें तो अन्तमें कुछ मिलेगा क्या? वह ईंट पत्थरका मकान तो इस ज्ञानमात्र अमूर्त आत्मामें आता नहीं, ज्ञानमें तो प्रवेश करता नहीं। वह तो अलग ही है वह खाली है, केवल कल्पना कर करके अपनेको संक्लिष्ट बनाते रहें चाहे और अन्य क्या कोई वस्तु ऐसी है कि जिसको मनमें धारण करें, तो कुछ लाभ मिले। क्या परिवारजनोंको चित्तमें धरे रहें तो उससे कुछ लाभ अन्तमें मिलेगा? सब जीव न्यारे न्यारे हैं, केवल अपनी कल्पना कर करके अपना जीवन यापन कर रहे हैं। हैं सब सूनेके ही सूने। केवल अपने आपके स्वरूपमय हैं सो और भी सोच लो, लाखों और करोड़ोंका वैभव यदि हम मनमें रखे रहें तो इससे कोई सिद्धि है क्या? कुछ भी तो सिद्धि उससे नहीं है।

तो कौनसा पदार्थ ऐसा है कि जिसको हम अपने मनमें बसायें तो कुछ मेरा हित हो? किसे अपना मन सौंपे? कौन वास्तविक शरणभूत [illegible] है और व्यवहारसे भगवत्

स्वरूप है। भगवान की भक्ति करे या आत्माका ध्यान करे—दो के सिवाय तीसरी बात कोई भी इस जीवको हितकर नहीं है। बाकी और काम करने पड़ें तो उन्हें करिये पर विरक्त होकर करिये, उपेक्षा धारण करके कीजिए। अपने उपयोगमे इस आत्मतत्त्वका ही सदा ध्यान करो। कैसा है यह आत्मतत्त्व ? जो शुद्ध है, केवल अपने स्वरूप है, पर और परभावो से रहित है। यह निज आत्मतत्त्व शुद्ध है। केवल है ऐसे ज्ञान स्वरूप अपने आपके आत्माको समझने से ही लाभ मिलेगा।

हम कौनसी चीज निरखें जिससे हम अपने आत्माका परिचय पा सकेंगे। वह मिलेगा मात्र ज्ञानस्वरूपमें इसही आत्मतत्त्वका परम मुनीश्वर नित्य ध्यान करते हैं। जो तत्त्व इस लोकमें सर्वजीवोंके शरीरमे मौजूद है, फिर भी शरीरसे जुदा है। यह ज्ञायक स्वरूप परमात्मतत्त्व, जिसका आश्रय करने से समस्त संकट टल जाते हैं वह आत्मतत्त्व प्रत्येक देहमें मौजूद है। फिर भी देहसे रहित है। जो आत्मतत्त्व दिव्य देहको धारण किए है अर्थात् केवल ज्ञान दर्शन विशाल प्रकाश ही जिसका शरीर है, अपने आपके अन्तरमे बसे हुए परमात्माकी चर्चा की जा रही है। अपनी ही चीज अपने को न रुचे या अपनी ही चीज के सुननेमें मन न लगे यह तो है बडे खेद की बात। अपनी ही बात और अपनी ही नहीं, खुद अपने रूप ही है यह, फिर भी ध्यानमे न आये इसका कारण क्या हो गया है, परवस्तुवों में विषय कषायों मे कितनी दृढ़ रुचि कर लिया है कि इस दृढ़ मोह के कारण अपना ही स्वरूप अपने आपकी समझमें नहीं आता है।

यह आत्मतत्त्व तीन लोकमे श्रेष्ठ है। सबसे उत्कृष्ट चीज क्या है लोकमें उसका नाम लो ? कहोगे कि चादी ? चांदी से बड़ी चीज है क्या कोई ? तो कहोगे सोना। सोना से भी बडी कोई चीज है क्या ? तो कहोगे कि रत्न बड़ी चीज है। पर वह रत्न भी नष्ट हो जाता है, मिट जाता है। इस रत्नके कारण चोर, बन्धु मित्र सबके द्वारा घात किये जाने का डर रहता है तो सबसे उत्कृष्ट चीज क्या रत्न हुआ ?

रत्नसे भी कोई उत्कृष्ट चीज है क्या ? यदि हो तो उसका नाम लो ? आप कहोगे कि देव बन जाना, देवों जैसी ऋद्धि सिद्धि हो जाना। तो वे देव भी तो मरते हैं, दुःखी होते हैं तो कौनसी उत्तम चीज है इन तीनों लोक मे सो बतलावो। तो आप कहेंगे कि हमारा यह शरीर ही सबसे उत्तम है और दूसरे की क्या कथनी करें ? अरे जब कोई डर भय की बात आगे आती है तो सब कुछ छोड़कर अपने शरीर को बचाने

के लिए बाहर भाग जाते हैं। तो क्या यह शरीर आपका है? इस पर काहे का मोह? दूसरेको गदगिया देखकर अपनी गदगियों का निर्णय कर लो। अथवा जब जुकाम भरा हो, खांसी आ रही हो तो पता पड जाता है अपने लल्लू को कि शरीर कैसा है। तो यह शरीर भी गंदी चीज है, विनाशीक है, मर मिटता है। यह शरीर भी नहीं रह पाता है। क्या उत्कृष्ट है दुनियामें मेरे लिए सो बतलावो। खूब सोच लो। खूब धन जोड़ कर सब कुछ करके खूब खोज लो, मेरे लिए क्या बड़ा है? जगत् में कोई भी चीज मेरे लिए उत्कृष्ट न मिलेगी।

तो क्या ऐसे ही हम इस जगत्में भटकते रहेंगे? क्या कोई उत्कृष्ट तत्त्व मेरे हाथ न आयेगा? क्या मैं सुखी हो ही नहीं सकता? है उत्कृष्ट तत्त्व। अपने आपमें अनादि अनन्त नित्य प्रकाशमान जो सहज ज्ञायकस्वरूप है, जो पारिणामिक भाव है, जिसका परिणमन चल रहा है और वही का वही है, ऐसे परमार्थभूत अपने आपका जो चतन्यस्वरूप है वही उत्कृष्ट है। क्या किसी ने देखा है अपना प्रभु स्वरूप? जिन्होंने देखा है वे पूर्ण शान्तिको प्राप्त हो गए हैं। जिस तत्त्वकी आराधना करके शान्तपरिणामी पुरुष सिद्ध पदको प्राप्त करता है उस तत्त्वका इस ग्रन्थ मे वर्णन किया गया है जिसने तीन लोकमें अत्यन्त श्रेष्ठ पूज्य इस निज आत्मतत्त्वको पाया है वह अवश्य ही सिद्ध पदको प्राप्त करता है। सिद्ध परमशान्त रूप जो जीव स्वरूप है उसको कहते हैं।

जहा ख्याति, पूजा, लाभ आदि समस्त विकल्प-जाल नहीं रहे है, परम उपशम शान्त स्वरूप है, अन्तर्दृष्टि का परिणाम है, जिसने परमार्थभूत अपने आत्मतत्त्वका अपने आपके मनमें प्रकाश पाया है ऐसे इस अव्याबाध अनन्तानन्द आदि गुणों के द्वारा तीन लोकमे भी श्रेष्ठ अपने आपके अन्तरमें बसे हुए इस निज परमात्मतत्त्वका इस परमात्म प्रकाश ग्रन्थमें वर्णन है। जो इस वर्णनको सुनकर इस परमतत्त्वको पायेगा उस को अवश्य सिद्धि होगी। देखो भैया! योगीन्दुदेवकी करुणा कभी अपनी लघुताका उपदेश करते हैं, कभी ग्रन्थकी श्रेष्ठता बताते हैं। कितनी करुणा बनायी है? कभी अपनी लघुता भी बताते जाते हैं और ग्रन्थका महत्त्व भी बताते जाते हैं। तो शुद्ध परमात्मतत्त्वका आश्रय ही इस विश्व के कल्याणका कर्ता है।

अब ग्रन्थके अतमें अन्तिम मगल के लिए आशीर्वाद रूपसे नमस्कार करते है।

परम पयगयाणं भासओ दिव्वकाओ, मणंसि मुणिवराणं मुक्खदो दिव्वजोओ। विसयसुहरयाणं दुल्लहो जो हु लोए, जयउ सिवसरूवो केवलो कोवि वोहो ॥२१४॥

ऐसा कोई शिवस्वरूप केवलज्ञान प्रकाशरूप परमात्मतत्त्व जयवंत होवो। जो परम पदको प्राप्त हुए जीवों के हजारों सूर्योंसे भी अधिक ज्योतिस्वरूप है पर जिनकी दृष्टिमें आता है उनके लिए तो यह सब कुछ है, और जिनकी दृष्टि में यह नहीं आता उनके लिए यह कुछ भी नहीं है। यह ज्ञायकस्वरूप भगवान् आत्मा हजारों सूर्योंसे भी अधिक तेजवान है, और यह परमात्मतत्त्व जिनके विकसित हुआ है ऐसे अरहंत भगवान का जो औपाधिक शरीर है वह औदारिक परमौदारिक हो जाता है और हजारों सूर्योंसे भी अधिक तेजवान वह शरीर होता है। उस दिव्य शरीर में जो इतना तेज आया वह किसका प्रताप है ? केवलज्ञान, केवलदर्शन आदि गुणसम्पन्नताका और मिथ्यात्व, अविरति, कषाय रूप मैलों के रंच भी न रहने का प्रताप है। जिस परमतत्त्वके विकासमें यह शरीर भी दिव्य हो जाता है वह परमतत्त्व चैतन्यस्वरूप जयवंत हो।

इस ग्रन्थमें इन तीन सवा तीन सौ दोहोंमें जिस तत्त्वका वर्णन किया गया है वह तत्त्व सब जीवोंमें मौजूद है। इसको विकल्परहित पुरुष ही देख सकते हैं। इस परमतत्त्वके दर्शनके बाधक विषय कषाय और विकल्प हैं। जगतमें जीवों पर कैसा अंधेर मच रहा है कि है तो किसीका अन्य कुछ नहीं किन्तु कैसी मोह धूल इसकी बुद्धि पर पड़ी है कि बाह्य पदार्थों को ये अपना स्वरूप मानते हैं। अमुक बाह्य तत्त्व रहेगा तो हमारा जीवन है अन्यथा जीवन ही नहीं है ऐसी दीनता बसाली है। यह भ्रम न रहे तो इस आत्मामें सब समृद्धि ही समृद्धि है।

भैया ! अपने में यह ज्ञानसमुद्र अगाध, गम्भीर विस्तृत है पर इसके और उपयोग के बीच में रूपरहित सूक्ष्म विकल्पों की झीनी चादर ओढे आयी है, जिसके कारण यह उपयोग ज्ञानसागर में स्नान नहीं कर सकता, डूब नहीं सकता, संताप मिटा नहीं सकता। सबसे बड़ा वैभव है बुद्धिका स्वच्छ रहना। बुद्धि की स्वच्छता के वैभवके समक्ष करोडोंकी सम्पत्ति भी न कुछ चीज है। कोई करोड़पति तो हो और उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो तो उस धन सम्पत्तिसे क्या आनन्द मिल सकता है ? नहीं और कोई गरीब हो, पर बुद्धि स्वच्छ हो तो उसका आनन्द कोई नहीं लूट सकता। बुद्धिकी अत्यन्त स्वच्छता वहां होती है जहां इस शरीरके आधारभूत चैतन्यतत्त्वका दर्शन होता है।

यहा सहज चैतन्य स्वरूपकी भावनाकी जा रही है कि यह चैतन्य महान् तेज सदा जयवत हो जो दिव्य योग मोक्षका देने वाला है। इस परमात्मतत्त्वका ही प्रारम्भसे लेकर अन्तिम विकास तक चमत्कार है। चौथे गुण स्थानसे लेकर सिद्धपर्यन्त इस परमतत्त्वका ही सारा चमत्कार है, पूर्व अवस्थामें तो इस परमतत्त्वकी प्रतीति है फिर निकट उत्तर अवस्था में इस परमतत्त्वका आलम्बन है। फिर और उत्तर अवस्थामें इस परम तत्त्व के उपयोगकी स्थिरता बढ बढकर जब एकत्व वितर्क अविचार नामक शुक्ल ध्यान प्रकट होता है, तब इसका दिव्य योग कहलाता है, यह दिव्य योग मोक्षका देने वाला है।

भैया! यह परमतत्त्व मुनिवरोंके मनमें सदा जयवत होता है, जैसे जगलमें भिलनियोंको गजमोती मिल जाए तो वे उसे पत्थर समझकर शरीरका मल घिसने में ही प्रयोग करती हैं। उनको तो गुञ्जियोंका ही परिचय है, वे भिलनिया उन गजमोतियोंको गुञ्चीकी श्रेणीमें ही मानती हैं। सो ऐसे गजमोतियोंका यदि भिलनियोंने अनादर किया तो करे, पर भिलनियोंके अनादर करने से क्या मोतियोंका अनादर हो जाता है? मोतियोंके पहिनने वाले राजा, जौहरी, रानी, बडे पुरुष उनका आदर करते हैं और बडे प्रेमसे अपने कंठमें धारण करते हैं। इसी प्रकार अपने आपमें बसे हुए इस परमात्मतद्रवको यदि अज्ञानी जीवोंने अनादर कर दिया तो इन अज्ञानियोंके अनादर करनेसे यह चैतन्यस्वरूप, परमात्मतत्त्व क्या अनादृत हो जाएगा? इसका परिचय पाने वाले बडे योगीश्वर इस परमतत्त्वका बडा आदर करते हैं।

अज्ञानीजन भी उन योगीश्वरों का आदर करते हैं और ज्ञानीजन भी करते हैं। अज्ञानीजन भी जो परमात्मतत्त्वको तो नहीं जानते, मगर उन योगीश्वरोंकी महिमाको किसी रूपमें समझते हैं। किस कारण योगीश्वरोंकी महिमा है? यह अज्ञानी जीव नहीं जानते, किन्तु उनकी महिमा बड़ी है तो इस परमतत्त्वके आश्रयके कारण बडी है। ऐसा यह अपने आपमे सतत प्रकाशमान शिवस्वरूप परमतत्त्व जयवत हो। इस परमतत्त्वका दर्शन जयवंत हो। इस परमतत्त्वका दिव्य योग जयवत हो और इस परमतत्त्वका केवल असहायपूर्ण बोधरूप चमत्कार जयवत हो।

यह परमतत्त्व विषय सुखमें रत होने वाले अज्ञानीजनोंको दुर्लभ है जो पचेन्द्रियके विषयोंमें आसक्त हैं जिन्हें बाह्य पदार्थ रूप रस आदि ही इष्ट बन रहे हैं, उन विषयासक्त पुरुषोंको इस परमात्मतत्त्वकी भावनासे उत्पन्न हुआ आनन्द विषय सुखोंसे अतीत है। वह काहेका सुख जिसके

भोगे जानेमें दुःख हो, भोगे जाने के पहिले दुःख हो, भोगे जा चुकने पर दुःख हो। यह गृह जंजालका सुख भी काहेका सुख है जिसके प्रारम्भमें दुःख हैं, जिसके वर्तमानमें दुःख हैं और जिसके अन्तमें दुःख हैं।

लोग पुत्रादिकके समागमसे अपनेको महान् मानते हैं। भला बतलाओ तो सही कि जब पुत्रादिक उत्पन्न नहीं हुए तब इच्छा करके, आशा करके हाँ, हा ऐसा सोचकर दुःख सहता रहा यह बाप, और जब पुत्रादिक हो गए तो उनकी रक्षामें नाना क्लेश सहे और जब बच्चे हिलने डुलने लायक हो गए तो वे बच्चे अपनी हठ दिखाकर बापको दुःखी करने लगे, और जब बच्चे और बड़े हो गए तो बापकी इच्छाके प्रतिकूल चल कर दुःखी किया बापको। भला कौन किसकी इच्छाको निभा सकता है? कोई रागके आवेशमें किसीकी इच्छाको राख दे तो राख दे किन्तु कोई किसी परके आधीन नहीं है। सो दूसरेकी मनचाही प्रवृत्तिसे बहुत दुःखी रहते हैं, जब वह बाप बूढ़ा हो गया तो उन्हीं बच्चोंने उसकी जायदाद पर कब्जा कर लिया, अब वह असहाय होकर दुःखी होता है। मानलो जीवन भर आराम ही पहुचाया पुत्रोंने तो वियोगके उन चन्द मिनटोंमें सारे जीवन भरके भोगे हुए सुखकी कसर निकल जायेगी। बड़े क्लेशसे मरण होगा।

भैया! कौनसा जगतमें परपदार्थ ऐसा है जो इस जीवके सुखका कारण बन सकता हो? किन्तु यह मोही पुरुष पचइन्द्रियके विषयोंके सुख से ही मौज मानता है, जैसे विष्ठाका कीड़ा विष्ठामें ही रहकर मौज मानता है, बाहर आए तो किलबिलाता है। जब तक अज्ञानका उदय है तब तक यह प्राणी विषयोंके सुखमें ही मौज मानता है। जब विषय छूट जायें, विषयोंसे कुछ परे हो तो बड़ी बेचैनी मचाता है। ऐसे विषय सुखों में आसक्त पुरुषोंको यह परमात्मतत्त्व दुर्लभ है। ऐसा यह परमात्मतत्त्व उनके ही प्रकट होता है जो अपने स्वरूपको रागादिक भावोंसे भिन्न जानते हैं वे ही इस ज्ञानस्वरूपके ज्ञानी बने रहने। रूप परम समाधिको प्राप्त करते हैं। किस प्रकार प्राप्त करते हैं अपना आत्मस्वरूप? बहिरात्मस्वरूपसे हटकर, अज्ञानको त्याग कर अपने अन्तरात्मामें लगते हैं।

इस अन्तरङ्ग आत्मतत्त्वके प्रकाशको लखकर कैसे परमात्मस्वरूप बनना है? इसका उपाय और मर्म इस परमात्मप्रकाश ग्रन्थसे योगीन्दुदेव ने सरलतासे बताया है। अब यह परमात्मप्रकाश ग्रन्थ पूर्ण होता है, तो जिसकी चर्चाके सम्बन्धसे बहुत लाभ प्राप्त किया तो उस चर्चाके छोड़ने

के समय जिसकी चर्चा हुई है उस परमतत्त्वकी भक्ति प्रकट करते हैं। कल्याणवाद बोलते हैं। जैसे कोई याचक किसी बड़े दयालु धनिक पुरुषसे मनचाहा भोजन प्राप्त करे और उस दानीसे हित मित प्रिय शीतल वचन सुननेके बाद पूर्ण सन्तुष्ट होकर जब विदा होता है तब उसको आशीर्वाद देता है कि फलोफूलो, जयवंत होवो। ऐसी मंगलसूचक बात कहकर विदा होता है। इसी प्रकार यहां योगीन्दुदेव इस परम धनी सर्वसमृद्धिसम्पन्न एकमात्र सारभूत अपने आपमें बसे हुए अनादि अनन्त ध्रुव चैतन्य स्वरूपमय परमतत्त्वकी चर्चासे, दृष्टिसे बहुत बहुत तृप्ति पाने के बाद जब चर्चा कर चुकनेके बाद विश्राम ले रहे हैं तो आचार्यदेवके मुखसे जयवाद निकल रहे हैं।

वह परमतत्त्व जयवंत हो जिसकी दृष्टिसे जीव अनाकुल होता है। वह परमतत्त्व जयवंत हो जिसकी एकाग्र चिंतनासे वह दिव्य योग बनता है, जिसके पश्चात् सर्वज्ञता प्रकट होती है। यह परमतत्त्व जयवंत हो जो विषय सुखमें रति करने वाले जीवोंको दुर्लभ है और मुनिवरोंके मनको सदा प्रसन्न रखने वाला है, ऐसे इस ग्रन्थके वाच्यभूत चैतन्यस्वरूप परम तेज जयवंत हो।

इनके जयवंत होनेकी बातमें यह आशय बना हुआ है कि इस परम तत्त्वके दर्शन, प्रतीति, आश्रय, आलम्बन, उपयोग और अनुरूप परिणमन द्वारा उत्तरोत्तर हम जयी हों, परम आत्मा हों, ऐसी इस भावनासे गर्भित परमतत्त्व है उसका जयवादरूप, आशीषरूप यहां मंगलवाद किया जारहा है और इस परमतत्त्वकी धुनिके साथ इसकी जयवादके साथ यह ग्रन्थ आज समाप्त होता है। इस ग्रन्थका नाम सार्थक है—परमात्माका प्रकाश कैसा है और जो चाहिए जीवको अपने हितके लिए वही इसमें बताया गया है। इसके स्वाध्यायसे, अध्ययनसे, ध्यानसे हम लोग अपने पाप संकटोंको दूर करें और सहज स्वाधीन आनन्दको प्राप्त करें।

श्री योगीन्दुदेव द्वारा विरचित यहां परमात्मप्रकाशक परमात्मप्रकाश ग्रन्थ समाप्त हुआ है। इसके टीकाकार श्रीब्रह्मदेव सूरी हैं। वे कुछ अपने विषयमें कह रहे हैं। यह ग्रन्थ आध्यात्मिक है जिसमें आत्माकी शिक्षा दी जाए ऐसा यह हितकारी ग्रन्थ है। इस ग्रन्थमें—संधियां प्राय नहीं की गयी हैं। एक विभक्त्यंत पदसे दूसरे विभक्त्यंत पदका जो जोड़ किया जाता है उसे संधि कहते हैं। सो कितनी ही जगह इस ग्रन्थमें संधि नहीं की गयी है और वाक्य भी भिन्न भिन्न आ गये हैं। यद्यपि शब्दशास्त्रके अनुसार उचित यह दूषण माना जा सकता है, किन्तु जीवोंको सुखपूर्वक

आता है कि मैं केवल भावोंको ही कर पाता हू। भावोंसे अतिरिक्त मैं अन्य कुछ नहीं करता। तब म अपने आपकी ऐसी भावना करूँ जैसा सहज सत्य बोलूँ। असत्यकी भावना छोड़ूँ। सत्यकी भावना करने से सत्य प्रकट होता है। अपने आपको जैसा मेरा स्वरूप नहीं है वैसा न मानो।

मैं पुरुष भी नहीं, स्त्री भी नहीं, परिवार वाला भी नहीं, किसी नगरका वासी भी नहीं, किसीका मित्र नहीं, किसीका वैरी नहीं, किसी का कुछ नहीं। देहसे भी निराला अमूर्त ज्ञानप्रकाशमात्र सहज ज्योतिस्वरूप हू, निर्विकल्प हू। जैसा मेरा सहज स्वरूप है वैसी भावना से अनाकुलता उत्पन्न होती है और जो मेरा स्वरूप नहीं है वैसी विपरीत कल्पनामें क्लेश उत्पन्न होता है। मैं आत्मतत्त्व क्या हू? जैसा मैं हू वैसी भावना करना। यही इस ग्रन्थका सार बताया है। मैं किसी परपदार्थका कर्ता नहीं हू। मैं कर्तृत्वसे रहित केवल अपने आपकी शक्तिमें परिणत उदासीन हू। मैं किसी पर गुस्सा करके किसीका कुछ नहीं कर सकता क्योंकि मैं परसे उदासीन हू। और यदि कोई उदासीन हो जाय वास्तविक मायने मे उस परके प्रति क्रोध भाव ही न जगे तब तो उदासीन भी है और उत्कृष्ट भी है।

आत्मा चाहे उत्कृष्ट अवस्था में रहे, चाहे निकृष्ट अवस्थामें रहे पर यह रहता उदासीन है। यह समस्त द्रव्योंका स्वभाव है कि वह अपने आपमें ही परिणत होता है, परमें कुछ नहीं करता। इसलिए सभी द्रव्य उदासीन हैं और जब मै अपने सहजस्वभाव पर दृष्टि देता हू तब मैं परमार्थसे और हितकारी वृत्तिसे उदासीन हू। परमात्म प्रकाशग्रन्थकी समाप्तिके बाद करने योग्य जो कार्य है वह बताया जा रहा है। यह मैं स्वसम्वेदन ज्ञानके द्वारा प्राप्त किया जाने योग्य हू। जिसके सम्बन्धमें स्वरूपका आख्यान किया जा रहा है वह स्वरूप हमारे ग्रहणमें आए, विश्वासमे आए तब तो हम जानेगे कि क्या है यह स्वरूप। किन्तु हमारे ग्रहणमें ही कुछ न आये और बात बोलते जाएँ तो उससे तो हमारा कुछ निर्णय न होगा कि हम हैं कुछ। वह तो एक रूढिवश अथवा शब्दोंसे बोलते चले आए हैं सो बोल दिया।

जैसे तोता भी राम राम रटता है और अनेक दोहे बोल जाता है पर उस तोते को उसकी भाव भासना जैसे न होती होगी, इसी प्रकार आत्माके सम्बन्धमें सब कुछ बोलकर भी यह अमूर्त है, आकाशवत् निर्लेप है और कठिन परिभाषावों में यह अपने अगुरुलघु गुणके कारण निरन्तर

परिणमता है। सब कुछ बोल डारें, पर ग्रहणमे तो कुछ नहीं आया, पकडमें कोई बात नहीं आयी। यह आत्मा हमारे ग्रहणमें कैसे आये? उसका उपाय बताया है कि स्वसम्वेदन ज्ञान द्वारा ही हमारा आत्मा हमारे ग्रहणमे आ सकता है अर्थात् यह मेरा ज्ञान इस ज्ञानके ही स्वरूपमें जानने में लग जाय तो परदृष्टि हटकर ज्ञानमयको जानने के कारण ज्ञानका अनुभव करता हुआ यह ज्ञानको ग्रहण कर लेता है। कैसा है वह स्वसम्वेदन ज्ञान? जहां स्वाभाविक आनन्दका अनुभव जग रहा है।

किसी परपदार्थपर दृष्टि न हो तो भय चिंता शल्य क्षोभ कुछ नही प्रकट होता है। क्षोभ परको उपयोगमे लेनेसे ही होता है। जैसे किसी पुरुषको बडे सुखके साधन भी मिले हों, मनके अनुकूल सर्वसामग्रिया खूब आती भी रहती हों, उसकी भी ऐसे सुख साधनके प्रसंगमे चूंकि राग का भार उपयोग पर जमा है सो हर्ष करते हुएमें क्षोभ करता है। जगत में हर्ष और विषाद बिना क्षोभ भी नहीं होता। जैसे क्षोभ बिना क्लेश नहीं होता, इसी तरह क्षोभ बिना, आकुलता बिना हर्ष भी नहीं होता। हर्ष और विषाद दोनों स्थितियोंमें अन्तरमें आकुलता पडी हुई है।

इन्द्रियके विषयोंका साधन क्या आकुलता बिना, बडी शांतिके साथ कोई किया करता है? कोई उद्वेग हुए बिना, क्षोभ हुए बिना, आकुलता और विकल्पजाल हुए बिना इत्रको भी यहां वहा कोई लपेटता है? आकुलता बिना कोई भोजनको गलेसे गटागट उतार सकता है क्या? अब यह खाना है, अब यह खाना है, कौर उठा रहे हैं, चबा रहे हैं, स्वाद विशेष है तो उसमे ही मस्त हो गए है। ये सारी भिन्न-भिन्न क्रियाएँ क्या आकुलता बिना होती हैं? और भी जितने इन्द्रिय विषयोंके साधन हैं वे सब आकुलतापूर्वक होते हैं। किन्तु आत्माका अनुभवरूप काम निराकुलताके अनुभवरूप ही होगा। जहा रंच भी हर्ष या विषादका क्षोभ है वहा स्वानुभव नही जगता। तो स्वसम्वेदन ज्ञान होने के लिए अपना शुद्ध आनन्दरूप अनुभव होना चाहिए।

भैया! आत्माका आनन्द बाहर कहां गया? कहीं नहीं गया। अन्तरमे परिपूर्ण मौजूद है, पर जान तो जाय, ऐसा मान तो ले कि यह मैं केवल अपने स्वरूपास्तित्व मात्र हू। जो इसमें है वह यहांसे मिटता नहीं है, जाता नहीं है। जो इस मुझमे नहीं है वह तीनों कालमें किसी परवस्तुसे आता नहीं है। ऐसा अपने आपका स्वरूपास्तित्व मात्र श्रद्धान हो, ज्ञान हो और ऐसा ही जाननेमें उपयोगकी स्थिरता हो तो ऐसी स्थिति में सहज आनन्दका अनुभव होता है। और ऐसे आनन्दके अनुभवपूर्वक

सुसम्वेदन ज्ञान द्वारा आत्माका ग्रहण होता है।

जिसने अपने आपकी प्राप्ति करली है, दृष्टि करली है उसने अलौकिक वैभव पाया है और जिसकी अपने आपके स्वरूप पर दृष्टि नहीं है वह लाक व्यवहारमें लाखों और करोड़ोंका वैभव सभाले हुए हो तो भी वह दीन है, गरीब है। वह अपने आपमें अपने को निर्भर, भरा हुआ अनुभव कर ही नहीं सकता। तो यह सहजआनन्द वीतराग अवस्थामें प्रकट होता है। यह वीतराग अवस्था अपने शुद्ध सहजस्वरूपमें अपने आपका श्रद्धान ज्ञान और अनुष्ठान हो तो ऐसे निश्चयभूत रत्नत्रय के आधारपर अथवा निर्विकल्प समाधिके आधार पर यह वीतराग सहज आनन्द जगता है और इस आनन्दके अनुभवनमात्र जो स्वसम्वेदन ज्ञान है उसके द्वारा मैं ग्रहणमें आता हूं।

इस आत्माके सम्बन्धमें किसी सिद्धान्त ने ज्ञानमात्र कहा है, किसी सिद्धान्त ने दर्शन मात्र कहा है, किसी सिद्धान्त ने आनन्द मात्र कहा है। सो ये सब अनुभवनकी कलाये हैं। जब यह एक अभेद समता परिणाममें रहता है उस समय जो स्थिति होती है उस स्थितिका वर्णन करने चलें तो आनन्दकी प्रधानतासे यह वर्णन कर सकते हैं और ज्ञानकी प्रधानतासे भी वर्णन कर सकते हैं, इसलिए कोई तो इस आत्माको आनन्द मय मानता है और कोई आत्माको ज्ञानमय मानता है। यह जैन दर्शन इस आत्माको ज्ञानानन्दमात्र मान रहा है। आनन्द भी आत्माका असाधारण गुण है और ज्ञान भी आत्माका असाधारणगुण है परन्तु आनन्द केवल भोगनेकी चीज है, व्यवस्था करने वाली चीज नहीं है, और ज्ञान व्यवस्था करने वाला है। जो व्यवस्था करता है उसका बोलबाला है और जो व्यवस्था नहीं कर सकता, चाहे वह कितने ही काममें आ रहा हो पर उसका बोलबाला नहीं है। इसी कारण आत्माका जब वर्णन होता है तो ज्ञायकस्वरूप की मुख्यतासे होता है।

आत्माका जानन अन्तरकी उन्मुखता करने द्वारा साध्य है। इसमें कुछ बड़े ज्ञानकी जरूरत नहीं है कि हमें बड़े व्याकरण शब्द शास्त्रके ऊँचे पदोंका ज्ञान हो तब हम आत्माको जान सकेंगे। अरे इसे तो पशुपक्षी भी जान जाते हैं, नेवला, साप, बदर, मेढक जिनकी हम तुच्छ गिनती करते हैं, ये छोटी-छोटी मछलियां मेढक, जिन जिनके कान हैं, जिन जिनके मन है ऐसे छोटे जीव भी जो चाहे अगुल दो अगुल के ही हों वे तक भी अपने आत्माको पकड़ सकते हैं। यहां तो हम आप मनुष्य हैं और वचनों द्वारा अपने भाव दूसरोंको बता देते हैं दूसरोंका भाव हम आप समझ लेते

हैं हम आप आत्माको नहीं पकड़ सकते यह बात नहीं हो सकती। मगर जो यत्न बताया है वह यत्न करके देखो। बातोंसे पकड़ नहीं होती।

जैसे किसी बच्चेको तैरनेकी सारी बातें सिखा दें, पानीमें यों गिरना, हाथोंको यों चलाना, पानीको यों फटफटाना, सिखा दिया बच्चे को। अब पानीमें छोड़ दो सिखा तो दिया ही है। अब वह बच्चा ठीक-ठीक तैर लेगा क्या ? तो वचनोंसे सीखा हुआ बच्चा पानीमें तैर नहीं सकता। पानीमे गिरकर पड़कर कोशिश करता है, सीखा हुआ मनुष्य ही पानीमें तैर सकता है। इसी प्रकार शब्दों द्वारा ऐसी बात सीख ली जाने पर भी आत्माकी पकड़ नहीं हो सकती। शब्दोंसे सीखा हुआ हो अथवा न सीखा हुआ हो, जो स्वसम्वेदन ज्ञानका यत्न करेगा वही इस आत्माको जान सकेगा।

अब करके क्या देखना है ? किसी समय, किसी जगह अपने मन को अपनी ओर मोड़कर दबा कर केन्द्रित करके किसीका कुछ न सोचो, सर्व पर हैं, सबका धोखा है, किसीसे हित नहीं है ऐसा सामान्य ज्ञान करके सबको भुला दें, किसी को अपने उपयोग में न आने दें और ऐसा दृढ़ साहस करके रह जायें—कुछ मुझे नहीं सोचना है, किसी भी परवस्तु का हमें ध्यान नहीं करना है, ऐसा दृढ़ साहस करके सर्व परको भुला दे तो ऐसी स्थितिमें यह ज्ञान-ज्ञानके स्वरूपको वेदकर ज्ञानसे भर जायेगा। ऐसा यह मैं हू, स्वसम्वेदन ज्ञान द्वारा गम्य हू, भरा हूं।

मुझमें कोई विकार नहीं है। स्वरूपको देखकर बोला जा रहा है। मेरे सत्त्वके कारण मेरेमें कोई विकार नहीं होता। इस कारण रागद्वेष मोह क्रोधादिक कषाय-पञ्चइन्द्रियके विषयोंके व्यापार, मन, वचन कायकी चेष्टाएँ, भावकर्म, द्रव्यकर्म, शरीर इन सबसे रहित हू। और अन्तरमे ख्याति, पूजा, लाभ, भोग, आकांक्षा, निदान, मिथ्याभाव किसी प्रकारका शल्य इस मुझ आत्मामें नहीं है। इसे अपने स्वरूप सत्त्वके कारण जैसा है वैसा सोचा जा रहा है। मैं सर्व विभाव परिणामोंसे शून्य हू, तीन लोक और तीन कालमें भी सर्व मन, वचन, कायोंसे मैं रहित हू। केवल ज्ञायक स्वरूप हू। और जैसा यह मैं हूं तैसे ही ये समस्त जीव हैं, ऐसी निरन्तर भावना करना चाहिए। यह सारभूत उपदेश इस परमात्मप्रकाश ग्रन्थमें टीकाकारने बताया है।

❀ इति परमात्मप्रकाश प्रवचन अष्टम भाग समाप्त ❀

आत्म-कीर्तन

शान्तमूर्ति न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी "सहजानन्द" महाराज

द्वारा रचित

हूँ स्वतन्त्र निश्चल निष्काम। ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ॥टेक॥

[१]

मैं वह हूं जो हैं भगवान, जो मैं हू वह हैं भगवान।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यहँ राग वितान ॥

[२]

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ॥

[३]

सुख दुख दाता कोई न आन, मोह राग रुष दुख की खान।
निजको निज परको पर जान, फिर दुखका नहिं लेश निदान ॥

[४]

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।
राग त्यागि पहुँचूं निजधाम, आकुलताका फिर क्या काम ॥

[५]

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूँ अभिराम ॥

❀ अहिंसा परमो धर्म ❀